

Hkkj rh; nfyR l kfgR; %
foopuk

I á knD
Áks foey Fkkjkr

I gk; d I á knD
f' konÜkk okoGdj

Hkkj rh; nfyR l kfgR; % foopuk

संपादक

i ks foey Fkkjkr

सहायक संपादक

f' konUkk okoGdj

vkoj .k fp=

सवी सावरकर

l fpoky; l g; ksx

कौशल्या सैनी / मिथिलेश प्रसाद

l kexh fuekZ k

सी. एन. पाण्डेय

अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

मानविकी विद्यापीठ, इग्नू

tuj] 2014

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2014

ISBN: 978-81-266-6768-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य के किसी भी अंश को किसी भी रूप में कापीराइट धारक से लिखित में अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ या किसी अन्य माध्यम से पुनरोत्पादित न किया जाए।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय पाठ्यक्रमों पर और कोई अन्य सूचना मैदान गद्दी, नई दिल्ली- 110068 स्थित विश्वविद्यालय के कार्यालय से प्राप्त की जाए या इग्नू की सरकारी वेबसाइट www.ignou.ac.in से प्राप्त की जाए।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली की ओर से निदेशक, मानविकी विद्यापीठ द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

लेजर टाईपिंग: टेसा मीडिया एण्ड कम्प्यूटर्स, सी-206, ए.एफ.ई.-II, जामिया नगर, नई दिल्ली

मुद्रक: राज प्रिंटर्स, ए-9, सेक्टर बी-2, ट्रानिका सिटी, लोनी गाजियाबाद (यूपी.)

Hkkj rh; nfyr I kfgR; % foopuk

1.	जातिप्रथा उन्मूलन (कुछ अंश) (डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर)	5
2.	जाति—व्यवस्था : उद्भव, विकास और प्रभाव (पी.एन. रंगास्वामी)	16
3.	जिन्हें विद्रोह करना था; उन्होंने नहीं किया (बाबुराव बागुल)	32
4.	दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि (ताराचन्द्र खाण्डेकर)	37
5.	भारतीय दलित साहित्य (डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी)	42
6.	अवतारवाद का समाजशास्त्र और लोकधर्म (चौथीराम यादव)	50
7.	भारतीय दलित कविता : सृजन और सरोकार (प्रो. विमल थोरात)	72
8.	दलित विमर्श का अर्थ और अर्थवत्ता (कंवल भारती)	81
9.	दलित आत्मकथा में भूख की बड़वाग्नि (डॉ. टी.वी. कट्टीमनी)	89
10.	नारी—स्वतंत्रता के संबंध में फुले के विचार (मीना काम्बले)	105
11.	दलित जीवन का दस्तावेज : दलित आत्मकथन (डॉ. विमल थोरात)	116

मित्रो

मुझे जातपात तोड़क मंडल के सदस्यों की स्थिति पर निश्चय ही खेद है, जिन्होंने इस सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए मुझे आमंत्रित करने की महती कृपा की है। मुझे यकीन है कि अध्यक्ष के रूप में मेरा चुनाव करने पर उनसे अनेक प्रश्न पूछे जाएंगे। मंडल को इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने लाहौर में हो रहे समारोह की अध्यक्षता करने के लिए बंबई से किसी व्यक्ति को क्यों बुलाया है। मुझे विश्वास है कि मंडल को इस समारोह की अध्यक्षता करने के लिए मुझसे कहीं अधिक योग्य व्यक्ति आसानी से मिल सकता था। मैंने हिन्दुओं की आलोचना की है। मैंने महात्मा के प्रभुत्व पर संदेह प्रकट किया है, जिन्हें वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे मुझसे घृणा करते हैं। उनके लिए मैं उनके बाग में एक सांप के समान हूँ। इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक मनोवृत्ति के हिन्दू इस मंडल से इस बात का स्पष्टीकरण मांगेंगे कि इस सम्मानजनक पद के लिए मुझे क्यों बुलाया गया है। यह एक बड़े साहस का काम है। अगर कुछ राजनीतिक हिन्दू इसे अपमान समझते हैं तो मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। इस पद पर मेरे चुनाव से निश्चय ही धार्मिक प्रवृत्ति के सामान्य हिन्दुओं को प्रसन्नता नहीं होगी। मंडल से इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा जाएगा कि उसने अध्यक्ष के चुनने में शास्त्रीय निषेधादेश की अवज्ञा क्यों की। शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण को ही तीनों वर्गों का गुरु नियुक्त किया जाता है। 'वर्णानाम ब्राह्मणों गुरु', यही शास्त्रों का निर्देश है। इसलिए मंडल जानता है कि एक हिन्दू को किससे शिक्षा लेनी चाहिए और किससे नहीं। शास्त्र किसी हिन्दू को गुरु रूप में किसी भी ऐसे व्यक्ति को मात्र इसलिए कि वह ज्ञानी है, स्वीकार करने की अनुमति नहीं देते। यह बात महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण संत रामदास ने काफी स्पष्ट कर दी थी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने शिवाजी को हिन्दू राज की स्थापना के लिए प्रेरित किया था। रामदास 'दासबोध' नाम की अपनी मराठी काव्य रचना में जो एक सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक प्रबंध है, हिन्दुओं को संबोधित करते हुए पूछते हैं कि क्या हम किसी अन्त्यज को इस कारण से अपना गुरु मान सकते हैं कि वह एक पंडित (अर्थात् विद्वान) है। वह उत्तर देते हैं, नहीं। इन प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जाए, इस मामले को मैं मंडल पर छोड़ देता हूँ। मंडल उन कारणों को बहुत अच्छी तरह जानता है कि क्यों उन्हें अध्यक्ष के लिए बंबई की यात्रा करनी पड़ी और ऐसे व्यक्ति को इसके लिए निर्धारित करना पड़ा जो हिन्दुओं का इतना विरोधी हो तथा अपने स्तर को इतना नीचे गिराकर एक अन्त्यज, अर्थात् अछूत को सवर्णों की सभा में भाषण देने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं कहना चाहूंगा कि मैंने इस निमंत्रण को अपनी तथा अपने अनेक अछूत साथियों की इच्छा के विरुद्ध स्वीकार किया है। मैं जानता हूँ कि हिन्दू मुझसे उखड़े हुए हैं? मैं जानता हूँ कि मैं उनके लिए स्वीकार्य व्यक्ति नहीं हूँ। यह सब कुछ जानते हुए मैंने जानबूझकर अपने आपको उनसे दूर रखा है। मेरी उन्हें कष्ट पहुंचाने की कोई इच्छा नहीं है। मैं अपने ही मंच से अपने ये विचार रख रहा हूँ। इससे पहले ही काफी ईर्ष्या और उत्तेजना फैल चुकी है। मेरी जिस बात को हिन्दू सुन रहे हैं, उसे उनके मंच से उनके सामने कहने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। मैं अपनी नहीं, बल्कि आपकी इच्छा से यहां आया हूँ। आप समाज सुधार के काम में लगे हैं। इस कार्य ने हमेशा ही मुझे प्रेरणा दी है और इसी कारण से मैंने महसूस किया है कि मुझे इस कार्य में सहायता देने के अवसर को नहीं छोड़ देना चाहिए, विशेषकर ऐसे समय जब कि आप समझते हैं कि मैं इसमें सहायता कर सकता हूँ। मैं आज जो कुछ कहने जा रहा हूँ, क्या उससे आपको उस समस्या को सुलझाने में जिससे आप जूझ रहे हैं, किसी प्रकार से कोई सहायता मिलेगी, इसका निर्णय आप करें। मैं जो कुछ करने की आशा करता हूँ, वह यही है कि मैं इस समस्या पर अपने विचार आपके सामने रखूँ।

जो न्यायसंगत थे? क्या निष्कर्ष रूप में इससे यह सिद्ध होता है कि समाज सुधार का राजनीतिक सुधार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता? यदि मैं मामले के दूसरे पहलू पर विचार करूं तो इससे मामले को समझने में सहायता मिलेगी। मैं अपने तथ्यों के लिए अछूतों के साथ व्यवहार का उल्लेख करूंगा।

मराठा राज्य में पेशवाओं के शासन में यदि कोई हिन्दू सड़क पर आ रहा होता था तो किसी अछूत को इसलिए उस सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी कि उसकी परछाई से वह हिन्दू अपवित्र हो जाएगा। अछूत के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी कलाई या गर्दन में निशानी के तौर पर एक काला धागा बांधे, जिससे कि हिन्दू गलती से उससे छूकर अपवित्र हो जाने बच जाए। पेशवाओं की राजधानी पूना में किसी भी अछूत के लिए अपनी कमर में झाड़ू बांधकर चलना आवश्यक था, जिससे कि उसके चलने से पीछे की धूल साफ होती रहे और ऐसा न हो कि कहीं उस रास्ते से चलने वाला कोई हिन्दू उससे अपवित्र हो जाए। पूना में अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि जहां कहीं भी वे जाएं, अपने थूकने के लिए मिट्टी का एक बर्तन अपनी गर्दन में लटका कर चलें, क्योंकि ऐसा न हो कि कहीं जमीन पर पड़ने वाले उसके थूक से अनजाने में वहां से गुजरने वाला कोई हिन्दू अपवित्र हो जाए। मैं हाल ही के कुछ और तथ्यों का भी यहां उल्लेख करना चाहता हूँ। मध्य भारत की बलाई नाम की एक अछूत जाति पर हिन्दुओं द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का जिक्र करना काफी होगा। चार जनवरी 1928 के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की एक रिपोर्ट आप देखें। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता ने समाचार दिया है कि कनरिया, बिचोली-हाफसी, बिचोली-मर्दाना गांवों तथा इंदौर जिले (इंदौर रियासत के) के 15 अन्य गांवों की ऊंची जाति के हिन्दुओं ने, अर्थात् कालोटो, राजपूतों और ब्राह्मणों, जिनमें पटेल और पटवारी भी शामिल हैं, अपने-अपने गांवों के बलाइयों को सूचित किया है कि यदि वे उनमें रहना चाहते हैं तो उन्हें नियमों का अवश्य पालन करना होगा :

- क) बलाई, सुनहरी गोटेदार किनारी की पगड़ियां नहीं बांधेंगे।
- ख) वे रंगीन या फैंसी किनारी की धोतियां नहीं पहनेंगे।
- ग) वे किसी हिन्दू की मृत्यु पर मृतक के संबंधियों को चाहे वे कितनी भी दूर क्यों न रहते हों, मरने की सूचना देंगे।
- घ) सभी हिन्दुओं के विवाहों में बलाई लोग बारात के आगे और विवाह के दौरान बाजा बजाएंगे।
- च) बलाई स्त्रियां सोने या चांदी के आभूषण नहीं पहनेंगी। वे फैंसी गाउन या जाकेट भी नहीं पहनेंगी।
- छ) बलाई स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों के प्रसव के सभी मामलों में देखभाल करनी होगी।
- ज) बलाई लोगों को बिना कोई पारिश्रमिक मांगे सेवा करनी होगी और हिन्दू उन्हें जो कुछ खुश होकर देंगे, लेना होगा।
- त) अगर बलाई लोग इन शर्तों का पालन करना स्वीकार नहीं करते हैं तो उन्हें गांव को छोड़ना होगा।

बलाई लोगों ने उन्हें मानने से इनकार कर दिया और हिन्दुओं ने उनके विरुद्ध कार्रवाई की। बलाइयों को गांवों के कुओं से पानी नहीं भरने दिया गया। उन्हें अपने पशुओं को चराने के लिए नहीं ले जाने दिया गया। बलाई लोगों को हिन्दुओं की भूमि से गुजरने की मनाही कर दी, ताकि यदि किसी बलाई का खेत हिन्दुओं के खेतों से घिरा हो तो बलाई अपने ही खेत तक न पहुंच सकें। हिन्दुओं ने अपने पशुओं को भी बलाइयों के खेतों में चरने के लिए छोड़ दिया। बलाइयों ने इन अत्याचारों के विरुद्ध दरबार में याचिकाएं दायर कीं, किंतु चूंकि उन्हें समय पर कोई राहत नहीं मिली और अत्याचार जारी रहा तो सैकड़ों बलाई लोग अपने बाल-बच्चों सहित अपने घरों को जहां वे पीड़ियों से रहते आ रहे थे, छोड़कर समीपवर्ती रियासतों, अर्थात् धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर तथा अन्य रियासतों के गांवों में जाकर बसने के लिए मजबूर हो गए। अपने नए घरों में उनकी क्या स्थिति रही, उस पर फिलहाल हम विचार नहीं करेंगे। गुजरात में कविठा की घटना तो पिछले ही वर्ष घटी है।

विवाह, बाल विवाह, आदि से है, जब कि दूसरे प्रकार के समाज सुधार का संबंध जातिप्रथा के उन्मूलन से है। सामाजिक सम्मेलन एक ऐसी संस्था थी, जिसका संबंध मुख्य रूप से ऊंची जाति के प्रबुद्ध हिन्दुओं से था जो जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए आंदोलन करना आवश्यक नहीं समझते थे, या उनमें इसके लिए आंदोलन करने का साहस नहीं था। उन्होंने जबरन विधवापन, बाल विवाह जैसी बुराइयों को जो उनमें फैली हुई थीं और जिन्हें वे खुद महसूस करते थे, दूर करने की भारी आवश्यकता को महसूस किया। वे हिन्दू समाज के प्रश्न पर ही केन्द्रित थीं। इसका संबंध जातिप्रथा को तोड़ने के अर्थ में समाज सुधार से नहीं था। समाज सुधारकों ने इस मुद्दे को कभी नहीं उठाया। यही कारण है कि सामाजिक सुधार दल समाप्त हो गया।

मैं जानता हूँ कि यह दलील इस तथ्य को नहीं बदल सकती कि राजनीतिक सुधार को वास्तव में सामाजिक सुधार से वरीयता मिली। किंतु तर्क का अगर अधिक नहीं तो इतना मूल्य तो है ही। इससे स्पष्ट होता है कि समाज सुधारक क्यों सफल नहीं हुए। इससे हमें यह भी समझने में सहायता मिलती है कि राजनीतिक सुधार दल ने सामाजिक सुधार दल के ऊपर जो विजय प्राप्त की, वह कितनी सीमित थी और यह विचार कि सामाजिक सुधार के राजनीतिक सुधार से पहले होने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा विचार केवल तभी उत्पन्न होता है जब कि समाज सुधार का अर्थ परिवार का सुधार हो। यह तथ्य कि राजनीतिक सुधार समाज के पुनर्गठन के अर्थ में सामाजिक सुधार के ऊपर वरीयता प्राप्त नहीं कर सकता। एक ऐसा शोध-प्रबंध है जिस पर मैं समझता हूँ मतभेद नहीं हो सकता।

खेद है कि आज भी जातिप्रथा के समर्थक मौजूद हैं। इसके समर्थक अनेक हैं। इसका समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि जातिप्रथा श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम ही है। यदि श्रम का विभाजन प्रत्येक सभ्य समाज का एक अनिवार्य लक्षण है, तो यह दलील दी जाती है कि जातिप्रथा में कोई बुराई नहीं है। इस विचार के विरुद्ध पहली बात यह है कि जातिप्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है यह श्रमिकों का विभाजन भी है। इसमें संदेह नहीं है कि सभ्य समाज को श्रम का विभाजन करने की आवश्यकता है। किंतु किसी भी सभ्य समाज में श्रम के विभाजन के साथ इस प्रकार के पूर्णतः अलग वर्गों में श्रमिकों का अप्राकृतिक विभाजन नहीं होता। जातिप्रथा मात्र श्रमिकों का विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रम के विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम नहीं होता। जातिप्रथा के इस विचार के विरुद्ध एक तीसरा तथ्य भी है। श्रम का यह विभाजन स्वतः नहीं होता। यह स्वाभाविक अभिरुचि पर आधारित नहीं है। सामाजिक और वैयक्तिक कार्यकुशलता के लिए आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की क्षमता को इस बिंदु तक विकास किया जाए कि वह अपनी जीविका का चुनाव स्वयं कर सके। जातिप्रथा में इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है, क्योंकि इसमें व्यक्तियों को पहले से ही कार्य सौंपने का प्रयास किया जाता है, जिसका चुनाव प्रशिक्षित मूल क्षमताओं के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि माता-पिता के सामाजिक स्तर पर होता है। एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए तो व्यवसायों का यह स्तरण जो जातिप्रथा का परिणाम है, निश्चय ही घातक है। उद्योग कभी भी स्थिर नहीं होता। इसमें तेजी से और अचानक परिवर्तन होते हैं। ऐसे परिवर्तनों से व्यक्ति को अपना व्यवसाय बदलने की छूट होनी चाहिए। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को अपने आपको ढालने की ऐसी स्वतंत्रता के बिना, उसके लिए अपनी आजीविका कमाना असंभव हो जाएगा। जातिप्रथा हिन्दुओं को ऐसे व्यवसाय अपनाने की अनुमति नहीं देगा, जहां उनकी जरूरत है, यदि वे आनुवंशिक रूप से उनसे संबंधित नहीं हैं। यदि कोई हिन्दू अपनी जाति के लिए निर्धारित पेशे के अलावा नए पेशे को अपनाने की बजाय भूखा मरता दिखाई देता है, तो उसका कारण जातिप्रथा की कठोरता ही है। पेशों के पुनर्समायोजन की छूट न देकर अधिकतर बेरोजगारी फैलती है, जिसका सीधा कारण जातिप्रथा है, जो हमारे देश

में मौजूद है। श्रम के विभाजन के रूप में जातिप्रथा में एक और गंभीर दोष है। जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न श्रम का विभाजन छांट पर आधारित विभाजन नहीं है। इसमें वैयक्तिक भावना और वैयक्तिक वरीयता का कोई स्थान नहीं है। इसका आधार स्व-नियति का सिद्धांत है। सामाजिक कार्यकुशलता का विचार हमें इस बात को स्वीकार करने पर विवश करता है कि औद्योगिक प्रणाली में सबसे बड़ा दोष केवल निर्धनता नहीं है इस प्रणाली में जो बड़ा कष्ट है, वह यह है कि बहुत ज्यादा लोग ऐसे व्यवसायों में लगे हैं जिनके प्रति उनकी प्रवृत्ति नहीं है। यदि किसी ऐसे को व्यवसाय से निरंतर लगा रहना पड़े तो उस व्यक्ति को उससे पीछा छुड़ाने, उसके प्रति सद्भावना न होने और उससे बचने की इच्छा होती है। भारत में अनेक ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें हिन्दू निकृष्ट मानते हैं, इसलिए जो लोग उनमें लगे हैं, वे उनसे पीछा छुड़ाने को आतुर रहते हैं। ऐसे व्यवसायों से बचने और उन्हें त्यागने की निरंतर इच्छा बनी रहती है। इसका एकमात्र कारण वह निराशाजनक प्रभाव है, जो हिन्दू धर्म द्वारा उनके ऊपर आरोपित कलंक के कारण पड़ता है। ऐसी व्यवस्था में क्या कार्यकुशलता हो सकती है, जिसमें न तो लोगों के दिल और न दिमाग अपने काम में होते हैं? इसलिए एक आर्थिक संगठन के रूप में जातिप्रथा एक हानिकारक व्यवस्था है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वाभाविक शक्तियों का दमन रहता है और सामाजिक नियमों की तत्कालीन आवश्यकताओं की प्रवृत्ति होती है।

कुछ लोगों ने जातिप्रथा के समर्थन में जैविक दलील दी है। कहा जाता है कि जाति का उद्देश्य प्रजाति की शुद्धता और रक्त की शुद्धता को परिरक्षित रखना है। अब नृजाति वैज्ञानिकों का मत है कि विशुद्ध प्रजाति के लोग कहीं नहीं हैं और संसार के सब भागों में सभी जातियों का मिश्रण है, विशेषकर भारत के लोगों के मामले में तो यह स्थिति आवश्यक है। श्री डी.आर. भंडारकर ने 'हिन्दू जनसंख्या में विदेशी तत्व' (फारेन एलीमेंट्स इन द हिन्दू पॉपुलेशन) विषय पर अपने प्रलेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई ऐसा वर्ग या जाति होगी, जिसमें विदेशी वंश का मिश्रण न हो। न केवल राजपूत और मराठा जैसी योद्धा जातियों में विदेशी रक्त का मिश्रण है, बल्कि ब्राह्मणों में भी है, जो इस सुखद भ्रांति में हैं कि वे सभी तत्वों से मुक्त हैं।" जातिप्रथा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका विकास प्रजातियों के मिश्रण को रोकने अथवा रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साधन के रूप में हुआ है। वास्तव में, जातिप्रथा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका विकास प्रजातियों के मिश्रण को रोकने अथवा रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साधन के रूप में हुआ है। वास्तव में, जातिप्रथा का जन्म भारत की विभिन्न प्रजातियों के रक्त और संस्कृति के आपस में मिलने के बहुत बाद में हुआ। यह मानना कि जातियों की विभिन्नताएं अथवा प्रजाति की वास्तविक विभिन्नताएं और विभिन्न जातियों के संबंध में यह मानना कि वे इतनी ही अधिक विभिन्न प्रजातियां थीं, तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना है।

पंजाब के ब्राह्मणों और मद्रास के ब्राह्मणों में क्या जातीय संबंध और पंजाब के चमारों में क्या जातीय अंतर है? मद्रास के ब्राह्मणों और मद्रास के पेरिया में क्या जातीय अंतर है? जाति की दृष्टि से पंजाब का ब्राह्मण उसी प्रजाति का है, जिसका पंजाब का चमार है, और मद्रास के ब्राह्मण की वही जाति है जो मद्रास के पेरिया की। जातिप्रथा मानव-वंश या प्रजाति के विभाजन का निर्धारण नहीं करती। जातिप्रथा तो एक ही प्रजाति के लोगों का सामाजिक विभाजन है। यदि यह मान लिया जाए कि जातिप्रथा मानव प्रजाति को विभाजित कर देती है तो यह भी सवाल किया जा सकता है कि अगर भारत में अलग-अलग जाति और रक्त के समुदायों को अंतर्विवाह करने की अनुमति दी तो विभिन्न प्रजातियों और परिवारों को एक-दूसरे में समागम से क्या हानि होगी? इसमें संदेह नहीं कि जहां तक आदमियों और जानवरों का संबंध है, उनमें इतना गहरा अंतर है कि विज्ञान इन्हें दो अलग-अलग जीव रूपों की मान्यता देता है, लेकिन जो वैज्ञानिक प्रजातियों की शुद्धता (मिश्रण-हीनता) में विश्वास करते हैं, वे भी दावे के साथ

यह नहीं कहते हैं कि अलग-अलग प्रजाति के लोग, अलग-अलग किस्म के होते हैं। वे सभी एक ही नस्ल की अलग-अलग किस्मों के होते हैं। वे एक-दूसरे की उप-जातियों में विवाह करके संतान उत्पन्न कर सकते हैं— ऐसी संतानें, जो स्वयं भी आगे संतान उत्पन्न करने में समर्थ होंगी, और जो बंध्या न होंगी। जातिप्रथा के पक्ष में आनुवंशिकता और सुजननिकी की तर्कहीन बातें बताई जाती हैं। अगर जातिप्रथा सुजननिकी (यूरनिक्स) के मूलभूत सिद्धांत के अनुकूल होती तो इसमें किसी को आपत्ति न होती, क्योंकि किसी को भी उत्तम व्यक्तियों द्वारा समागम से जाति की किस्म में सुधार लोन में आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि जातिप्रथा के कारण उत्तम स्त्रियों और पुरुषों में सही समागम किस प्रकार सुनिश्चित होता है। जातिप्रथा नकारात्मक तथ्य है। यह केवल अलग-अलग जातियों के लोगों को आपस में अंतर्विवाह का निषेध करती है। यह ऐसा सकारात्मक उपाय नहीं है, जिससे एक ही जाति के दो उत्तम नर-नारी आपस में विवाह कर सकें। यदि जाति का उद्गम सुजननिकी के सिद्धांत पर आधारित है, तो उप-जातियों का प्रादुर्भाव भी सुजननिकी के आधार पर ही होना चाहिए। लेकिन क्या कोई गंभीरतापूर्वक यह कह सकता है कि उप-जातियों का उद्गम सुजननिकी के कारण हुआ है? मैं समझता हूँ कि स्पष्ट कारणों से ऐसा मानना बहुत ही असंगत है। अगर जाति का आशय प्रजाति या नस्ल से है, तो उप जातियों में पाए जाने वाले अंतर को प्रजातीय अंतर नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तब उप-जातियां भी उसी परिकल्पना के आधार पर उसी एक मूल नस्ल की उप-खंड होंगी। इससे स्पष्ट है कि उप-जातियों में आपस में रोटी-बेटी के व्यवहार पर रोक लगाने का उद्देश्य प्रजाति या रक्त की शुद्धता बनाए रखना नहीं हो सकता। फिर यदि उप-जातियों का उद्गम सुजननिकी ही हो सकता, तो इस कथन में कोई दम नहीं है कि प्रजाति का उद्गम सुजननिकी है। फिर अगर यह मान भी लिया जाए कि जाति का उद्गम सुजननिकी के प्रयोजन से है, तो अंतर्विवाह संबंधी निषेध समझ में आ जाता है। लेकिन विभिन्न जातियों के बीच और विभिन्न उप-जातियों के बीच खान-पान पर भी निषेधाज्ञा लगाने का क्या प्रयोजन है? आपस में खान-पान से तो रक्त पर असर नहीं पड़ता और इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि इससे प्रजाति या नस्ल सुधरेगी या खराब होगी। इससे सिद्ध है कि जाति का कोई भी वैज्ञानिक उद्गम कारण नहीं है और जो इसे सुजननिकी के आधार पर सही बताना चाहते हैं, वे विज्ञान का नाम लेकर घोर अवैज्ञानिक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। सुजननिकी को व्यावहारिक संभावना के रूप में तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता, जब तक हमें आनुवंशिकता के नियमों का पक्का ज्ञान न हो जाए। प्रो. बेटसन अपनी पुस्तक 'मेंडेल्स प्रिंसिपल्स ऑफ हैरिडिटी' में कहते हैं, "यदि संतान में बेहतर मानसिक गुण आए तो उसी के आधार पर यह कहना संभव नहीं है कि वे केवल किसी विशेष वंश-परंपरा के गुण के कारण ही आए हैं। हो सकता है कि जो गुण संतान में आए हैं, या जो शारीरिक शक्ति उसमें अधिक मात्रा में है, वह अनेक कारणों के होने से घटित है, न कि केवल एक आनुवंशिक तत्व के उसके शरीर में होने के कारण।" यदि यह तर्क दिया जाए कि जातिप्रथा सुजननिकी की परिकल्पना का परिणाम था, तो उसका आशय वह होगा कि आज के हिन्दुओं के पूर्वज आनुवंशिकता के विषय में उस ज्ञान से संपन्न थे, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के पास भी नहीं है। पेड़ की जांच उसके फलों से की जानी चाहिए। अगर जाति सुजननिकी के आधार पर होती, तो उससे किस नस्ल के आदमी पैदा होने चाहिए थे? जहां तक शारीरिक क्षमता का संबंध है, उसमें हिन्दू प्रजाति सबसे घटिया किस्म (सी-3) की है। वह छोटे आकार के बौनों की जाति है, जिनका शारीरिक विकास अवरुद्ध है और जिनमें 'दम' नहीं है। भारत ऐसा राष्ट्र है, जिसकी नब्बे प्रतिशत जनता सैनिक सेवा के लिए अयोग्य है। इससे स्पष्ट है कि जाति प्रथा आधुनिक वैज्ञानिकों की सुजननिकी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जातिप्रथा एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जो हिन्दू समाज के ऐसे विकृत समुदाय की झूठी शान और स्वार्थ की प्रतीक है, जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार इतने समृद्ध थे कि उन्होंने इस जातिप्रथा को प्रचलित किया और इस प्रथा को अपनी जोर-जबरदस्ती के बल पर अपने से निचले तबके के लोगों पर लागू किया।

जातिप्रथा से आर्थिक उन्नति नहीं होती। जातिप्रथा से न तो नस्ल या प्रजाति में सुधार हुआ है और न ही होगा। लेकिन इससे एक बात अवश्य सिद्ध हुई है कि इससे हिन्दू समाज पूरी तरह छिन्न-भिन्न और हताश हो गया है।

सबसे पहले हमें यह महत्वपूर्ण तथ्य समझना होगा कि हिन्दू समाज एक मिथक मात्र है। हिन्दू नाम स्वयं विदेशी नाम है। यह नाम मुसलमानों ने भारतवासियों को दिया था, ताकि वे उन्हें अपने से अलग कर सकें। मुसलमानों के भारत पर आक्रमण से पहले लिखे गए किसी भी संस्कृत ग्रंथ में इस नाम का उल्लेख नहीं मिलता। उन्हें अपने लिए किसी समान नाम की जरूरत महसूस नहीं हुई थी, क्योंकि उन्हें ऐसा नहीं लगता था कि वे किसी विशेष समुदाय के हैं। वस्तुतः हिन्दू समाज नामक कोई वस्तु है ही नहीं। यह अनेक जातियों का समवेत रूप है। प्रत्येक जाति अपने अस्तित्व से परिचित है। वह अपने सभी समुदायों में व्याप्त है और सबको स्वयं में समाविष्ट किए हुए है और इसी में उसकी अस्तित्व है। जातियों का कोई मिला-जुला संघ भी नहीं है। किसी भी जाति को यह महसूस नहीं होता कि वह अन्य जातियों से जुड़ी हुई है— सिर्फ उस समय को छोड़कर, जब हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं। अन्य सभी अवसरों पर तो प्रत्येक जाति यह कोशिश करती है कि वह अपनी अलग सत्ता को ठीक से बनाए रखे और दूसरों से स्पष्ट रूप से अलग रहे। प्रत्येक जाति अपनों में ही खान-पान और शादी ब्याह का संबंध रखती है, यहाँ तक कि हर जाति अपना एक अलग पहनावा तक निश्चित करती है। इस बात से अलग दूसरा कारण क्या हो सकता है कि भारत के नर-नारी असंख्य किस्मों के परिधान पहनते हैं, जो कि पर्यटकों के लिए हैरानी का कारण है। दरअसल, हर आदर्श हिन्दू उस चूहे की तरह है जो अपने ही बिल में घुसा रहता है और दूसरों के संपर्क में नहीं आना चाहता। हिन्दुओं में उस चेतना का सर्वथा अभाव है, जिसे समाजविज्ञानी— 'समग्र वर्ग की चेतना' कहते हैं। उनकी चेतना समग्र वर्ग से संबंधित नहीं है। हरेक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसकी अपनी ही जाति के बारे में होती है। किसी कारण यह कहा जाता है कि हिन्दू लोग अपना समाज या राष्ट्र नहीं बना सकते। लेकिन अनेक भारतीयों की देशभक्ति की भावना उन्हें यह मानने की अनुमति नहीं देती कि वे एक राष्ट्र नहीं हैं अथवा वह विभिन्न समुदायों का मात्र एक अव्यवस्थित समूह हैं। वे इस पर आग्रह करते हैं कि ऊपर से अलग-अलग दिखने वाली हमारी जनता में एक मूलभूत एकता है, जो हिन्दुओं के जीवन की विशेषता है, क्योंकि उनकी आदतों प्रथाओं, विश्वासों और विचारों में एकरूपता है, जो भारत में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। इसमें संदेह नहीं कि उनके स्वभाव, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों में समानता है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना स्वीकार्य नहीं होगा कि हिन्दू जनता को हिन्दू समाज की स्थिति प्राप्त है, ऐसा मान लेने का अर्थ है— समाज रचना के अपरिहार्य तत्वों को सही रूप में न समझना। केवल भौतिक दृष्टि से पास-पास रहने के कारण लोगों को उस व्यक्ति से अधिक समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती जो अपने समाज से मीलों दूर रहने पर अपने समाज का सदस्य नहीं रहता है। दूसरी बात यह है कि केवल आदतों, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों की समानता होने से ही व्यक्तियों को 'समाज' नहीं कहा जा सकता। चीजें भौतिक रूप से एक से दूसरे व्यक्ति के पास पहुंच सकती हैं— जैसे ईंटें। इसी तरह एक समुदाय की आदतें, रीति-रिवाज, धारणाएं और विचार भी दूसरे समुदाय द्वारा अपनाए जा सकते हैं और इस तरह दोनों समुदायों में समानता प्रतीत हो।

संस्कृति विकीर्ण होकर फैलती है और इसी कारण पास-पास न रहते हुए भी अनेक आदिम जातियों की आदतों, रीति-रिवाजों, धारणाओं और विचारों में समानता दिखाई देती है। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता क्योंकि इन आदिम जातियों में समानता है, इसलिए उनका एक समाज है। कुछ बातों में समानता एक समाज के निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं है। लोग एक समाज का निर्माण करते हैं, क्योंकि वे समान रूप से व्यवहार करते हैं। व्यवहार में समभाव का होना समान रूप से व्यवहार करने से सर्वथा भिन्न है। चीजों को समभाव रूप में अपनाने का एकमात्र

उपाय यही है कि सभी का एक—दूसरे से पूरा—पूरा संपर्क रहे। इसी शब्द को दूसरे ढंग से कह सकते हैं कि समाज आपसी संपर्क और आपसी संवाद को सतत जारी रखकर ही अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। मूर्तरूप से कहा जाए तो सिर्फ यही काफी नहीं है कि सभी लोग वैसे ही आचरण करें, जैसे अन्य लोग कर रहे हैं। अगर अलग—अलग लोग एक जैसा ही सब कुछ कर रहे हैं, तो भी उन्हें उसी समाज का अंग नहीं माना जा सकता। यह इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं की विभिन्न जातियों के लोग एक से ही त्यौहार मनाते हैं। लेकिन अलग—अलग जातियों द्वारा उन्हीं त्यौहारों के मनाए जाते रहने के बावजूद वे एक समाज में नहीं बंध पाए हैं। इसके लिए यह अनिवार्य है कि सभी लोग किसी सामूहिक कार्य में इस प्रकार मिल—जुलकर बराबरी से हिस्सा लें या भागीदारी करें कि उन सभी में भी वे ही भाव हों जिनसे शेष अन्य लोग अनुप्राणित होते हैं। लोगों को जो चीज आपस में एक सूत्र में बांधती है और उन्हें एक समाज में पूरी तरह शामिल करती है, वह यह है कि हरेक व्यक्ति को सामाजिक गतिविधियों में इस तरह हिस्सेदार या भागीदार बनाया जाए, ताकि उसकी सफलता में उसे स्वयं अपनी सफलता और उसकी विफलता में अपनी विफलता दिखाई दे। जातिप्रथा इस प्रकार की सामूहिक गतिविधियों का आयोजन नहीं होने देती और सामूहिक गतिविधियों को इस प्रकार वर्जित करके ही उसने हिन्दुओं को एक ऐसे समाज के रूप में उभरने से रोका है, जिसमें सभी समुदाय एक होकर जिए और उनमें एक ही चेतना व्याप्त हो जाए।

हिन्दुओं की नीति और आचार पर जातिप्रथा का प्रभाव अत्यधिक शोचनीय है। जातिप्रथा ने जन—चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जातिप्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित है। गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है) उनकी सहानुभूति नहीं होती। गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरूरतमंद के लिए सहायता नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं है। अगर सहायता दें तो वह केवल जाति मात्र तक सीमित है। सहानुभूति है, लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए नहीं। क्या हिन्दू किसी भी महान और अच्छे व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते हैं और उसका अनुसरण कर सकते हैं? यदि कोई महात्मा हो तो उसकी बात अलग है, लेकिन सामान्य उत्तर यही है कि वह किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा, जब वह उसकी जाति का हो। ब्राह्मण नेता को ही मानेगा, कायस्थ, कायस्थ नेता का ही अनुसरण करेगा, आदि आदि। हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से। उनके लिए मुद्दा सिर्फ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष लें या नहीं। क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों—स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है?

अगर आप लोगों में से कुछ जातिप्रथा द्वारा उत्पन्न दुष्प्रभावों की इस ऊबने वाली चर्चा सुनते—सुनते थक गए हैं, तो मुझे आश्चर्य न होगा। इसमें कोई नई बात नहीं है। इसलिए अब मैं इस समस्या के रचनात्मक पहलू के बारे में कहना आरंभ करता हूँ। आपसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि अगर आप जाति के विरुद्ध हैं, तो आपके विचार से आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है? अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा, जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो। और ऐसा क्यों न हो? भाईचारे के विषय में क्या आपत्ति हो सकती है? मेरे विचार से तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए। उसमें ऐसी भरपूर

है, जिसके फलस्वरूप हम एक समानता को अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन समानता को स्वीकार करने का एक अन्य कारण भी है। एक राजनीतिज्ञ को असंख्य लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। उसके पास न तो समय है और न यही जानकारी कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग पहचाने और तदनुसार यथोचित व्यवहार करे, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता या उसकी सामर्थ्य के अनुसार व्यवहार करे। मनुष्यों के प्रति न्यायोचित व्यवहार कितना ही वांछनीय या तर्कसंगत हो, तथापि विशाल जनसंख्या को वर्गीकृत करना या उन्हें अलग-अलग करना संभव नहीं है। इसलिए राजनीतिज्ञ को एक सरल और व्यापक नियम का पालन करना चाहिए और वह सरल और व्यापक नियम यह है कि सभी लोगों को एक समान माना जाए, इसलिए नहीं कि सब समान हैं, बल्कि इसलिए कि उनका वर्गीकरण या उन्हें अलग-अलग करना असंभव है। समानता का सिद्धांत पूर्णतः भ्रांतिपूर्ण है, लेकिन कुल मिलाकर यही तरीका है, जिससे कोई राजनीतिज्ञ राजनीति कर सकता है, क्योंकि राजनीति पूर्णतः व्यावहारिक विषय है, जिसकी कसौटी भी पूर्णतः व्यावहारिक होती है।

लेकिन सुधारकों का एक वर्ग ऐसा है, जिसका आदर्श कुछ और ही है। ये स्वयं को आर्यसमाजी कहते हैं। सामाजिक संगठन का इनका आदर्श चातुर्वर्ण्य, अर्थात् पूरे समाज का चार वर्गों में विभाजन है, न कि चार हजार जातियों में, जैसा कि भारत में है। अपने इस सिद्धांत को अधिक आकर्षक बनाने के लिए और विरोधियों को हतप्रभ करने के लिए चातुर्वर्ण्य के ये प्रचारक बहुत सोच-समझकर बताते हैं कि उनका चातुर्वर्ण्य जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर है। यहां पर पहले ही मैं बता देना चाहता हूँ कि भले ही यह चातुर्वर्ण्य गुण के आधार पर हो, किंतु यह आदर्श मेरे विचारों से मेल नहीं खाता। पहली बात तो यह है कि अगर आर्यसमाजियों के चातुर्वर्ण्य के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने गुण के अनुसार हिन्दू समाज में स्थान मिलता है, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि आर्यसमाजी लोग सभी लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से पुकारते ही क्यों हैं। यदि किसी विद्वान को ब्राह्मण न भी कहा जाए, तो भी उसे आदर प्राप्त होगा। यदि कोई सिपाही हो, तो क्षत्रिय कहे बिना भी उसका सम्मान होगा। आर्यसमाजी लोगों का ध्यान अभी तक इस बात पर नहीं जा सका है कि अगर यूरोपीय समाज अपने सिपाहियों और सेवकों को कोई स्थायी नाम दिए बिना उनका सम्मान कर सकता है तो हिन्दू समाज को ऐसा करने में क्या कठिनाई है। इन नामों को जारी रखने में एक और भी आपत्ति है। सभी सुधारों के मूल में यह तथ्य होता है कि परिवर्तन हो जाए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वे नाम हैं, जिनकी हर हिन्दू के मस्तिष्क में एक निश्चित और रूढ़ धारणा बनी हुई है। वह धारणा यह है कि ये सभी जातियां जन्म के आधार पर एक सोपानिक क्रम में हैं। जब तक ये नाम बने रहेंगे, तब तक हिन्दू जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को ऊंची से लेकर निम्नतम जाति के सोपानिक क्रम में मानते रहेंगे और तदनुसार व्यवहार करेंगे। हिन्दुओं को यह सब कुछ भूल जाना होगा। लेकिन जब तक ये पुराने नाम बने रहेंगे, तब तक वह इन्हें कैसे भुला सकेंगे – ये तो उनके दिमाग में उनकी पुरानी धारणाओं को पुनःजागृत करते रहेंगे। अगर लोगों के मन में नई धारणाओं को स्थापित करना है तो उन्हें नया नाम देना भी जरूरी है। पुराने नाम को बनाए रखने का अर्थ किसी भी सुधार को निरर्थक बना देना होगा। गुण के आधार पर इस चातुर्वर्ण्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अनर्थकारी नामों से रखना – जिनसे जन्म के आधार पर सामाजिक विभाजन का संकेत मिलता है, समाज के लिए एक फन्दे की तरह है।

जाति और समाज

डा. अ. क. शर्मा

पूरे विश्व में सामाजिक-व्यवस्था के रूप में 'जाति' भारत की अपनी निजी और अनोखी संरचना है इसका उद्भव भारतीय समाज में एक अभिशाप के रूप में हुआ है। हम भविष्य में भी इस अभिशाप को एक प्रभावकारी सामाजिक पद्धति के रूप में या इस अभिशाप की प्रभावकता को अपने विकास के रास्ते और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अवरोधक के रूप में मानते हैं।

आधारभूत सामाजिक-परिवर्तन उत्पादक-पद्धति और उत्पादन-संबंधों के आधार पर होते हैं, सामाजिक-संरचना के अंग के रूप में कृत्रिम परिवर्तन यहां दृष्टिगोचर हो चुके हैं, जिन्हें न तो इतिहास अंगीकृत कर सका है, न ही आगे इसका बोझ उठा सकता है। लेकिन यहां यह एक ऐसी व्यवस्था है, जो हमारे समाज में आए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों व प्रभावों को समाज के गैर महत्त्वपूर्ण तबके तक नहीं पहुंचने देती, बल्कि यह सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्र के विकास को भी अवरुद्ध करती है। हम जाति-प्रथा के उद्भव, विकास और वर्तमान समय में समाज में इसकी उपस्थिति का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करेंगे और इसके उन्मूलन के लिए कार्य करेंगे।

हमारा वर्तमान समाज अर्द्ध सामंती अवशेषों वाला नौकरशाही-पूंजीवादी चरित्र का है, जो अपने जनजातीय अतीत के उन्माद में है। यह अपने विचार और कार्य में जातीय मनोविज्ञान से संचालित होता है। जाति-व्यवस्था की अधिसंरचना (Super Structure) अपनी आर्थिक-संरचना पर निर्भर है, जो निम्न जाति के आर्थिक आधारों पर स्पष्टता से अभिव्यक्त होती है।

विभिन्न समुदायों के व्यक्तियों के बीच विभिन्नता दिखलाने वाली क्या विशेषताएं हैं? वह कौन-सी चीजें हैं, जो 'जाति' को 'वर्ग' से पृथक करती है? किस तरह जाति-व्यवस्था आधारभूत मानवीय गतिविधियों से संबद्ध है? किस तरह जाति-व्यवस्था न्यायिक, राजनीतिक, विचारधारात्मक और सांस्कृतिक धरातल जैसी अधिसंरचनाओं में स्वयं को अभिव्यक्त करती है। (आज भी अभिव्यक्त करती है)? किस तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जाति-व्यवस्था शासक-वर्ग और ऊंची जाति के लोगों द्वारा आम लोगों के शोषण को संभव बनाती है, जाति स्वयं को उच्चवच्च संरचनाओं में अभिव्यक्त करती है, तब किस तरह निम्न जातियां और आदिवासी, शासक-वर्ग और ऊंची जाति के कठोर व अदम्य शोषण का शिकार बनती हैं?

अध्ययन की दृष्टि से सभी प्रमुख जातियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

- 1) उच्च जाति के वे लोग, जो उत्पादक या गैर-उत्पादक श्रम की किसी भी गतिविधि में संलग्न नहीं होते हैं। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों के उच्च वर्ण, जैसे मुदानियर, पिल्लिस आदि।
- 2) उत्पादक या गैर-उत्पादक श्रम में संलग्न मध्य जाति के वे लोग, जैसे किसान, कलाकार, संगतराश और कारखानों में काम करने वाले अन्य सभी श्रमिक।
- 3) दासोचित कार्यों में संलग्न निम्न जाति के लोग, जैसे धोबी, नाई आदि। इसके साथ इस वर्ग में अनुसूचित जाति व आदिवासी समुदाय के लोग भी सम्मिलित किए जा सकते हैं।

पूर्वोक्त तीनों श्रेणियों में प्रथम श्रेणी राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्र की अधिसंरचना में सम्मिलित है अथवा औद्योगिक, व्यावसायिक या नौकरशाही क्षेत्र से आधार रूप में संबद्ध है।

दूसरी श्रेणी से संबद्ध मध्य जातियों का धनी तबका प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में भाग लेता है, विशेषकर कृषि-कार्यों में। सामंत-वर्ग का उद्भव इसी श्रेणी की जातियों से हुआ। हमारी आबादी का बहुसंख्यक हिस्सा इन्हीं मध्यवर्गीय जातियों से मिलकर बना है। जाति-व्यवस्था का यही सबसे बड़ा आधार है, जैसे कि बाद में यह भूमिका राज्य निभाने लगा है।

जातियों की तीसरी श्रेणी इस पृथ्वी पर सबसे बदनसीब व अभागी हैं। राज्य द्वारा कानूननिर्मात्री सभाओं (विधानसभा, संसद व सरकार) में प्रदर्शन हेतु बिठाए गए इन जातियों के लोगों के सिवा इन जातियों के लोग सर्वाधिक दयनीय, गरीब और सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए हैं। हममें से अधिकतर लोग इससे परिचित हैं कि इन जातियों के लोग किन-किन घृणित परिस्थितियों के बीच रहते हैं; हमें इसका विस्तार से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्येक भारतीय एक विशिष्ट जाति में जन्म लेता है, जो उसके जन्म और विवाह द्वारा निर्धारित होती है, जबकि दुनिया के अन्य लोग भिन्न-भिन्न धर्मों में जन्म लेते हैं (जाति में नहीं!)। कोई भी व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों को परिवर्तित कर सकता है। परंतु कोई भी व्यक्ति अपनी जाति नहीं तब्दील कर सकता। हम जानते हैं कि इस ब्रह्मांड की प्रत्येक आधारभूत वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। फिर प्रश्न उठता है कि आखिर जाति-व्यवस्था के मूल में ऐसा क्या है जो उसे खत्म नहीं होने देती, जबकि यह लोगों की प्रगति के रास्ते में अवरोधक के रूप में खड़ी है, यहां तक कि अच्छी संस्थाओं व कल्याणकारी राज्य के निर्माण तक में बाधक है।

गौर से देखें तो हम पाते हैं कि जाति-व्यवस्था ने लगभग सभी युगों में शासक-वर्ग के हितों का पोषण किया है। यह हित-पोषण कभी तो सांस्कृतिक उच्चता के मिथक के आधार पर हुआ है तो कभी शक्ति-प्रदर्शन के आधार पर। ध्यान देने की बात है कि हमारे वर्तमान समय के शासक-वर्ग अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में कई गुना अधिक चालाक हैं। आदिम संचयन युग से लेकर अतिरिक्त श्रम के शोषण की वर्तमान व्यवस्था के युग तक शोषण-पद्धति अधिक से अधिक परिष्कृत होती चली गई है और कम-से-कम क्रूरतम हो गई है। भारतीय बौद्धिकता की इस धूर्तता की तुलना शायद ही किसी अन्य देश की बौद्धिकता से की जा सके। यह उपनिषद् के ही श्रेष्ठ ऋषि-मुनि थे, जिन्होंने एक ईश्वर की कल्पना कर दी, जो किसी भी अनुभव से परे था। यह भारतीयों का आदिम पिछड़ापन है कि उच्च पढ़े-लिखे व्यक्ति, वैज्ञानिक आदि भी अपने ईश्वर व अपनी जाति को अमेरिका तक ले जाने से नहीं चूकते। हमारे देश के शासक सच्चे अर्थों में प्रवाकंस के अनुयायी हैं, उनमें विश्वास करते हैं और उनके माध्यम से आदिवासी पंचमों में अपने वोट-बैंक को सुनिश्चित करते हैं।

जाति-व्यवस्था की तीसरी श्रेणी के पीड़ित लोगों की सहायता के लिए शासक-वर्ग ने विभिन्न उपाय किए हैं। लेकिन यह भौतिक (आर्थिक) सहायता जाति-व्यवस्था की कटुता का सामना करने के लिए अपर्याप्त है।

हमारे यहां की विवाह-पद्धति हमें इस बात के लिए मजबूर करती है कि हमारा जन्म जाति-व्यवस्था में हुआ हो। राज्य भी हमें शक्ति और शक्ति द्वारा जाति-व्यवस्था के भीतर रहने पर मजबूर करता है। यह हमें विरोधाभासी प्रतीत हो सकता है, लेकिन हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस मामले में सच्चाई जानता है। निम्न जाति में हुआ जन्म राज्य द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली आभासी किस्म की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए 'पासपोर्ट' की तरह है।

llkjrhl; nfyrl kfgR; %foopuk

गांवों में निम्न जातियों के लोग भूमि स्वामियों के प्रभुत्व के अंतर्गत रहते हैं; इन भूमिपतियों द्वारा निम्न जाति के उन्हीं लोगों को सहायता मिलती है, जो जाति-प्रथा के अंतर्गत होते हैं। इसके साथ-साथ इस मामले में वर्गीय प्रभुत्व भी बरकरार रहता है। गांवों की उच्च जातियां इस सामंती वर्गीय प्रथा को निरंतर मजबूत करती जाती हैं। इस उच्च-वर्ग में गांवों के नए धनी व राजनीतिक प्रभुत्वशाली लोग सम्मिलित होते हैं उच्च-वर्ग के लोग अपने प्रभाव के द्वारा निम्न जातियों को प्राप्त होने वाली रियायतों का बड़ा हिस्सा स्वयं हथिया लेते हैं। अनुदान व ऋण देने वाली संस्थाएं-बैंक आदि स्थानीय भूमिपतियों के प्रभाव में होती हैं। ये भूमिपति व स्थानीय राजनीतिज्ञ ही (एक प्रकार से) निम्न जाति के लोगों को अनुदान और ऋणों को देने के लिए सिफारिशें करते हैं, और बाद में इस रकम का एक हिस्सा स्वयं के लिए रख लेते हैं, जबकि इस बीच निम्न जाति का व्यक्ति उक्त पूरे धन का ऋणी हो जाता है। इस तरह भूमिपति अपने प्रभाव व शक्ति के फलस्वरूप फायदा उठाते रहते हैं, और रियायतें प्रदान करने वाला कानून एक ढकोसले में तब्दील हो जाता है। ये भूमिपति ही सत्ता में विद्यमान पार्टी के लिए वोट-बैंक का आश्वासन भी निर्मित करते हैं। यह अत्यधिक विरोधाभासी है कि अधिकतर दमित व शोषक-वर्ग ही सत्ताधारी का सबसे बड़ा वोट-बैंक होता है। शासक-वर्ग के सभी सांस्कृतिक उपागम जैसे धर्म, ईश्वर, त्यौहार और फिल्में आदि सब निम्न जाति वर्ग को झूठी संतुष्टि और भ्रम में रखते हैं। मीडिया भी इस अंतहीन प्रोपेगंडा को बरकारार रखता है, जिसमें निम्न जाति वर्ग के लोग अपनी बेड़ियों को विस्तृत किए हैं।

निम्न जाति-वर्ग के ये सभी लोग स्वयं को आदिम संस्कृति से संबद्ध मानते हैं और इस कारण वे अपने स्थानीय गांव व जाति-व्यवस्था पर आंसू नहीं बहा सकते हैं। यदि इन लोगों को शहरी क्षेत्र में छोड़ दिया जाए तो अस्वाभाविक नहीं कि वे स्वयं को असहाय पाएंगे। सफाई निरीक्षक के अंतर्गत वे वहां सबसे अच्छा काम झाड़ू वाले का ही पा सकते हैं।

जाति व्यवस्था का सबसे प्रतिकूल प्रभाव निम्न जाति के व्यक्ति पर ही पड़ता है और शासक-वर्ग के वैयक्तिक हित सबसे अच्छे ढंग से तभी पूरे होते हैं, जब यह व्यवस्था स्थायित्व ग्रहण करे।

समस्त मानवीयता एक बार आदिम व्यवस्था से होकर गुजरी है। पश्चिम के आधुनिक और विकसित देशों में अ-आदिमीकरण (De-tribalisation) की प्रक्रिया पूरी हो चुकी है और वे सामाजिक विकास की उच्चतर अवस्था में है। वही भारत में यह संक्रमण इसकी अपनी ऐतिहासिक अवस्थिति के कारण पूरा नहीं हो पाया है। उत्तर पूर्व और झारखंड के साथ मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा के कुछ हिस्सों में रहने वाले जनजातीय लोगों के आचार-व्यवहार व संस्कृति में अतीत की तुलना में जरा-सी भी अंतर नहीं आया है। भारत के अन्य हिस्सों में, यद्यपि अधिक नहीं, लोग एकदम पुराने ढर्रे पर ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अपने उत्पादक संबंधों में अनुसूचित जातियां अर्द्ध आदिवासी हैं। वहीं अपने सांस्कृतिक संबंधों में पूर्ण आदिवासी हैं। उनकी आर्थिक गतिविधियां बिल्कुल खेत-मजदूर की तरह हैं, जो नियमित या दिन-प्रतिदिन की मजदूरी पर निर्भर हो। इनमें से अधिकतर गांवों के बाहर अलग क्षेत्र में रहते हैं। इनमें से कुछ गांवों से कस्बों या शहरों में चले गए हैं। वहां भी वे सफाई करने के सिवा अन्य कोई कार्य/रोजगार नहीं प्राप्त कर पाते। यह बिल्कुल असंभव है कि इन लोगों को कोई अन्य रोजगार प्राप्त हो जाए उनकी सांस्कृतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि उन्हें शिक्षित होने से रोकती है और इस तरह वे सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जा रही रियायतों/सुविधाओं का लाभ प्राप्त करने में सक्षम नहीं रह जाते। इन व्यक्तियों की जाति ही भिन्न किस्म का रोजगार प्राप्त करने में, गांवों को छोड़ने में या शिक्षा प्राप्त करने में सबसे बड़ा अवरोध है। अतीत में नियम था कि शूद्रों को शिक्षा नहीं प्राप्त करनी चाहिए, वहीं अब वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

अपने राजनीतिक जीवन में यह लोग शासक-वर्गों और उच्च जातियों के हाथों के खिलौने हैं। एक दिन की भोजन-प्राप्ति या कुछ रुपयों के लिए यह लोग अपने शत्रु को अपना वोट दे देते हैं। आरक्षण एक नई किस्म की जाति-व्यवस्था है, जो उन्हें उच्च जातियों के मालिकों के दासों में तब्दील कर रही है और संसद या विधान सभाओं में भी वे इन उच्च जातियों के हाथों की कठपुतली के समान हैं। इन दलित जातियों का अस्तित्व समाज की मुख्य धारा से पृथक परिभाषित किया जाता है।

इन लोगों का धार्मिक जीवन हिन्दुओं के धार्मिक जीवन से भिन्न होता है। उनके देवता भी गिनती के हैं। ये देवता या तो उनके पूर्वज हैं या हिंदू मूर्तिपूजकों के देवताओं से भिन्न हैं। इन जातियों के देवता अधिकतर स्त्रियाँ हैं। जैसे पट्टालधम्मन, मारी और मकाली आदि। पुरुष देवता करुप्परायन, कथवरयन और मथुराडू वीरन्चेरे को देवताओं में भी श्रेष्ठता प्राप्त है। निम्न जातियों के देवताओं की मिट्टी से बनी मूर्तियाँ कच्ची दीवारों से घिरे छोटे से स्थान पर रखी जाती हैं, जिन पर छतें भी नहीं होती हैं। इन देवताओं के लिए मनाए जाने वाले वार्षिक उत्सवों में बकरी या मुर्गे की भेंट चढ़ाई जाती है। ये देवता स्पष्ट रूप से निम्न जातियों के अपरिवर्तनशील जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं।

इनकी सांस्कृतिक गतिविधियाँ ग्रामीण क्षेत्रों की मध्यमवर्गीय जातियों के लोगों का अनुकरण होती हैं। इन निम्न जातियों के पास पराई (Parai) या थापत्ताई (Thappatti) नामक वाद्ययंत्र होता है और प्रत्येक इस वाद्य को बजा लेता है (यानि पीट लेता है)। यह भी अतीत के आदिम उन्माद की प्रतीक है। वे गांवों में मनाए जाने वाले प्रत्येक उत्सव में अपने पराई वाद्य के साथ ही भाग लेते हैं। उच्च जातियों के व्यक्तियों की मृत्यु पर आयोजित होने वाले मृत्यु-संस्कार में निम्न जाति के व्यक्ति भाग लेते हैं, जिसमें वे पराई को पीटते हैं और लयबद्ध रूप से पैरों के संचालन द्वारा नृत्य करते हैं। पंडाल लगाने से लेकर लकड़ी चीरने तक के समस्त प्रारंभिक कार्य ये निम्न जाति के लोग ही करते हैं। वहीं अन्य जातियों के लोग भी अपने जाति अनुरूप कार्य करते हैं। नाई, धोबी, कुम्हार, लोहार, बढ़ई अपनी जाति के अनुरूप कार्यों को अंजाम देते हैं और पारिश्रमिक के रूप में भोजन से ज्यादा कुछ नहीं पाते हैं। इन जातियों के लोगों को भोजन तब प्राप्त होता है, जब उच्च जातियों के लोग भोजन कर चुकते हैं। अन्य जातियों के लोगों को घरों में जाने की अनुमति होती है, वहीं निम्न जातियों के लिए घर के बाहर का स्थान निर्धारित होता है। पंचम घर के बाहर ही रहते हैं। विवाह आदि समारोहों में इनकी उपस्थिति निषिद्ध है, जबकि विवाह आदि संस्कारों में निम्न जातियों के लोगों के लिए जाति अनुरूप कार्य करना निर्धारित रहता है। ये लोग किस तरह अपने आदिम अतीत से संबद्ध हैं, गांवों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। निम्न जाति के लोग अपने साथ किए गए व्यवहार से अप्रसन्न तक नहीं हो सकते हैं। निम्न जातियों के लोग अपने लिए निर्धारित कार्यों को पूरा करने में ही गर्व की अनुभूति करते हैं। ये लोग विभिन्न संस्कारों में स्वयं की होने वाली अवमानना के प्रति कभी चेतनशील नहीं होते। इन लोगों के लिए सबसे बड़ा ईनाम भोजन ही होता है।

क्या स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद निम्न जातियों के दैनिक जीवन में कोई परिवर्तन हुआ है? साथ ही-साथ क्या आधुनिकीकरण का कोई प्रभाव इन लोगों पर पड़ा है? इस प्रश्न का उत्तर तो सकारात्मक है, लेकिन इस प्रभाव का रुख नकारात्मक दिशा में है। अतीत में निम्न जातियों के लोगों का शोषण सामंतवाद द्वारा किया जाता था। वहीं अब इन लोगों का शोषण अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीवादी देवता कर रहे हैं। बीड़ी, चाय व सिनेमा के साथ कस्बे तक जाने के लिए कभी-कभार बस की सवारी और शराब इन जातियों को भ्रम में रखने के नए साधन हैं, सूदखोर और डॉक्टर इन लोगों के लिए मित्र हैं। रेडियो के आविष्कार के साथ मंदिरों में होने वाले उत्सवों ने इन लोगों के जीवन में नए देवताओं का प्रवेश करवाया है, जिसकी चकाचौंध में ये लोग मेहनत से कमाए गए पैसों को उड़ा देते हैं और

हकजर; नफर । कगर; %फोपुक

भ्रम व कृत्रिमता को बढ़ावा देते हैं। शोषकों के लिए इन लोगों की मुक्ति का कोई लक्ष्य नहीं है। फिर किस तरह इन लोगों का उद्धार होगा?

तकफरि कक दक मन; वकज बल दक फोदकल

हमें उन ऐतिहासिक शक्तियों की खोज करनी चाहिए, जो जातिप्रथा जैसी परणासन्न सामाजिक-व्यवस्था को जीवित रखे हुए हैं? इसका कैसे उदय हुआ? ऐतिहासिक भौतिकवाद हमें वह आधारभूत जानकारी उपलब्ध करता है, जिससे हम पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर सकें।

इस परिप्रेक्ष्य में मानवीय इतिहास की शुरुआत से मानवीय समाज में आए परिवर्तनों से हमारा सरोकार है और इसमें भी विशेषकर इस बात से है कि ये परिवर्तन क्यों और कैसे हुए? पूरे विश्व में मानवीय विकास की एक सामान्य रूपरेखा विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित है। पशु अवस्था से मनुष्य में रूपांतर होने के बाद एक लंबे समय तक मनुष्य भोजन संग्राहक ही रहा और यह स्थिति एशिया-यूरोप या अफ्रीका हर कहीं रही। संख्या बढ़ने के साथ मनुष्य पर्याप्त मात्रा में भोज्य पदार्थ एकत्र करने में सक्षम नहीं रहा, तब मनुष्य ने भोजन के लिए शिकार करना प्रारंभ किया। मनुष्य न तो हिरन की तरह तेज दौड़ सकता था (है), न ही वह शेर की तरह शक्तिशाली ही था (है), इसलिए उसने सामूहिक रूप से शिकार करने के तरीके को विकसित किया। इस तरह सामूहिकता का विकास हुआ। एक ऐसा भी समय आया कि शिकार और मछली मारने से भी समूह के लिए पर्याप्त भोजन नहीं उपलब्ध हो पाता था, तब उसने पशुचारण शुरू किया। समूह के स्थान की सुविधा के लिए विवाह-पद्धति ने आकार ग्रहण किया। अब पशुचारण योग्य जानवर संपत्ति थे। पशुओं की चोरी करना पशुचारण से ज्यादा आसान था। इसलिए पशुओं की सुरक्षा की दृष्टि से स्थानीय समूहों ने साथ-साथ रहना शुरू किया, जिसमें वे पशु-समूहों की चोरी को रोक पाए। एक ही रक्त-संबंध वाले समूह को वंश कहा गया और वंशों का समूह कबीला कहलाने लगा।

हथियारों को पत्थर, लकड़ी और हड्डियों से बनाया जाता था। ये हथियार सामूहिक प्रयोग के लिए आवश्यक वस्तुएं थीं, जिसे वंश अपने अतिरिक्त समय में बनाते थे। इन लोगों के लिए बर्तन और कपड़े जैसी 'आधारभूत आवश्यकताएं' वैयक्तिक श्रम द्वारा पूरी हो सकती थीं, जो विशेषकर महिलाओं द्वारा किया जाता था।

गांवों में हस्तशिल्प के अन्य कार्य एकक परिवारों द्वारा किए जाते थे, जो मुख्य रूप से कृषक कार्य-करते थे। किसानों की संख्या ही अधिक नहीं थी, बल्कि वे अधिकतर काम ही कृषक का करते थे। समय के साथ-साथ वे महत्वपूर्ण होते चले गए और उन्होंने अपनी ऐतिहासिक अनिवार्यता स्थापित कर ली। इन प्रभुत्वशाली परिवारों के बड़े-बुजुर्ग बाद में अपने समुदाय के प्रमुख के रूप में स्थापित हो गए। इसी के साथ ये प्रमुख अपने प्रभुत्व और प्रभाव को उपज बंटवारे से लेकर न्याय देने तक के मामलों में करने लगे, स्तरीकृत व्यवस्था में यह एक नकारात्मक परिवर्तन था।

यहीं एक प्रश्न उन्पन्न होता है। एक बढ़ई, लोहार, कुम्हार, मिस्त्री और पुरोहित ने अंतर्जातीय विवाह-प्रथा के अंतर्गत पत्नियां कैसे प्राप्त की होंगी, जबकि कुछ प्रतिबंधित व्यवसायों वाले समूह से दुल्हन (स्त्री) प्राप्त करना प्रतिबंधित था। किस तरह कुछ खास व्यवसाय वाले समूहों में वधुओं और दूल्हों की अतिरिक्तता या कमी को पूरा किया गया होगा? यह समस्या तभी हल हो सकती है, जब हम इस तथ्य की ओर इशारा करें कि गांव अपने आदिम-आदिवासी संबंधों से बंधे हुए थे। इस कठिनाई के सिवा अंतर्जातीय विवाह-पद्धति ने उन बहिर्जातीय विवाहों के लिए मार्ग खोल दिया होगा, जो कई गांवों के एक खास क्षेत्र के भीतर होते होंगे।

या तो आदिम कबीले अपने पड़ोसी कबीले से अपने क्षेत्र की सीमा—विस्तार के लिए संघर्ष करते होंगे या फिर अन्य कबीलों की मध्यस्थता से अपनी समस्याओं का निबटारा करते होंगे। उदाहरणस्वरूप वज्जियों का संघ।

आदिम स्तर तक तो विवाद का स्वरूप मित्रवत् ही होगा, और वे शांतिपूर्वक सुलझा भी जाते होंगे। लेकिन कबीलों के बीच उत्पन्न हुए विवाद निश्चित तौर पर शत्रुताओं को जन्म देते होंगे और संघर्षों को बढ़ाने के लिए जिम्मेदार होंगे। ऐसे समय में कबीले योद्धा कैसे पाते होंगे? स्वाभाविक रूप से योद्धा कबीले के युवा व्यक्ति होते होंगे। इनका नेतृत्व कौन करता होगा? स्वाभाविक रूप से कबीले का निर्वाचित प्रमुख उनका नेतृत्व करता होगा। धीरे—धीरे इन प्रमुखों की जगह सलाहकार समितियों ने ले ली। लेकिन युद्ध में युवाओं का नेतृत्व करने के लिए अत्यधिक साहसी और शक्तिसंपन्न व्यक्ति की आवश्यकता होती होगी। इसलिए स्वाभाविक ही है कि कबीले का प्रमुख या गणपति लंबे समय तक लोगों की पसंद का रहा होगा, और यह पद आनुवंशिक होता गया होगा।

संगम—साहित्य में योद्धाओं, सलाहकारों और प्रमुखों की नियुक्तियों के वर्णन दिए हुए हैं। साथ ही साथ बड़े शौर्यपूर्ण ढंग से अगानरू और पुरानमुरू के रूपक पर आधारित प्रेम और युद्ध के संघर्षों के विवरण दर्ज हैं।

अमरीकन इंडियन (Red Indian) आदिवासियों का सामाजिक संगठन बिल्कुल इसी प्रकार का है। 'माया' और 'इंका' जैसे विकसित आदिवासियों के गांवों की संस्कृति भारतीय आदिवासी गांवों की संस्कृति से ज्यादा विकसित है। यह तब की बात है। जब वे कृषि—कार्य करने लगे।

यद्यपि लंबे समय तक उत्पादन—पद्धति और सामाजिक—व्यवस्था अपरिवर्तित रही, लेकिन मनुष्य इतिहास का यंत्र रहा और बहुत हद तक ऐतिहासिक प्रक्रिया का विषय भी। इतिहास की संचालन—शक्ति प्रकृति की द्वंद्वात्मकता है। इस कारण कृषि व हस्तशिल्प उत्पादन—पद्धति में आए परिवर्तनों ने भविष्य के परिवर्तनों के लिए मार्ग खोला। साथ ही साथ उसके संपीडित संबंधों ने अधिकाधिक संपत्ति और उत्पादन का सृजन किया। इसी के परिणामस्वरूप कस्बों और शहरों का उदय हुआ, जहां हस्त शिल्पकारों ने कृषि—कार्य से स्वतंत्र होकर अपने कार्य को करना शुरू किया कला, शिल्प उत्पादन व विनिमय में विविधता के परिणामस्वरूप व्यापारिक—जगत् और ऐश्वर्यपूर्ण वस्तुओं की उत्पादक जाति का जन्म हुआ। अधिकतर उत्पादन शोषक—वर्ग, जो कि राज्य की उत्पत्ति के बाद पुरोहित—वर्ग था, की सांस्कृतिक या सुविधाओं की जरूरतों को पूरा करने के लिए होता था। इस तरह से उच्च—वर्ग अस्तित्व में आया।

यह भी एक तर्क है, जिसके साथ मैं (लेखक) सहमत नहीं हूँ।

पराजित कबीले के लोग स्वेच्छा से या बलपूर्वक विजित जातियों में सम्मिलित किए गए होंगे, जो गांवों की निम्न जातियों के रूप में होंगे और इसी तरह गांवों की अन्य अनुत्पादक भृत्य जातियां।

अपेक्षाकृत कम सभ्य कबीले पराजित हुए और कैद कर लिए गए, जिन्हें बाद में गांवों के बाहर बसा दिया गया। इनमें से जो लोग जंगल भाग गए, स्वेच्छा से अपने संगी—साथियों के साथ आ मिले। उन्हें कैद कर लिया गया और घरेलू दास बना लिया गया। ये अछूत (बाद में पंचम) कृषक—जीवन के साथ निश्चित आवास और भोजन के प्रति अभ्यस्त होते चले गए। उन्होंने खतरों और भुखमरी वाले इस घुमंतू जीवन को पहले के जीवन से बेहतर माना। वर्तमान समय में भी इस तरह के उदाहरण हैं कि गांवों के गरीब शहरों में गए और वहां की झोपड़पट्टियों में बसने लगे।

हकजरह; नफरर । कफर; %फोरुक

बंबई और कलकत्ता जैसे महानगरों के स्लम-क्षेत्र इस बात के बेहतर उदाहरण हैं, जहां झुंड-के-झुंड पढ़े-लिखे बेरोजगार लोग रहते हैं।

जंगलों में रहने वाले इन कबीलों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बहुत अधिक पिछड़ी हुई थी। उन्होंने जंगली जीवन जीने की अपेक्षा अछूत बनकर रहना अधिक पसंद किया। यहां तक कि इन दिनों भी गांवों के अछूत मानवीय गरिमा के प्रति सचेत नहीं हैं, ये लोग ऊंची जाति के लोगों के मृत्यु-संस्कार या विवाहोत्सव में मात्र भोजन-प्राप्ति के लिए अमानवीय, अमर्यादित व्यवहार/कार्यकलाप करते हैं।

हम अपने शोध को आगे बढ़ाते हैं :

हम बेहिचक इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि अछूत-प्रथा की गैर-समतावादी व्यवस्था गांवों की जातिप्रथा के अंतर्गत अचानक श्रम-विभाजन के रूप में सामने नहीं आई। इन लोगों के लिए कुछ विशिष्ट कार्य जैसे पशुओं का वध, पशुओं की खाल उतारना, चमड़ा कमाना, शव-क्रिया और शव-संस्कार, गांव की गलियों की सफाई आदि कार्य निर्धारित है। इस तरह से भारतीयों का यह सामाजिक हिस्सा या विशेषकर द्रविड़ गांवों का संगठन पूरे विश्व में विशिष्ट होता गया है। यह द्रविड़-संस्कृति का प्रतिफलन है, न कि भारोपीय आर्यों की संस्कृति का, जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं।

vk; &o.k/ dk fodkl

आदिम समाज एक व्यवस्थित जीवन नहीं व्यतीत करता था। एक सीमित क्षेत्र में शिकार किया जाता था। जंगली पशु जिस भूमि पर से होकर गुजरते थे, वहां ऊंचे-ऊंचे बाड़े बनाकर उन्हें पकड़ा जाता था। इस तरह से मध्य एशिया में रहने वाले आर्य पश्चिमी यूरोप से दक्षिण में मेसोपोटामिया, भारत तक पहुंचे।

उक्त देशों के आदिवासियों को भारत व चीन जैसी विस्तृत और उपजाऊ भूमि पर एक स्थिर जीवन की संभावनाएं दिखाई दीं। इस तरह से आदिम आर्य-व्यवस्था से कृषक-अर्थव्यवस्था में प्रवेश करना पहली महान सामाजिक क्रांति थी। कृषि ने जीवन को सुरक्षा प्रदान की।

कृषक-सभ्यता शुरू होने से पहले तक मानवीय समाजों में परिवर्तन की रूपरेखा प्रतीकात्मक है। प्राचीन विश्व में कृषक समुदायों से सामंती समुदायों तक परिवर्तन भिन्न दिशामुखी था। सुमेरियन, मेसोपोटामियन, मिस्त्री, यूनानी-रोमन साम्राज्य और नगर-राज्य सामंती राज्य-व्यवस्था से भिन्न थे, जो यूरोप में बाद में उत्पन्न हुए।

यूरोप में भी आर्यों के तरीके की वर्णिक व्यवस्था जैसे पुरोहित, सामंत, येमोन और सर्फ की व्यवस्था थी। वर्ण एक राजनीतिक समाज था, जहां कुछ लोग कई लोगों का शोषण करते थे। वहीं जाति एक जनजातीय समाज-व्यवस्था थी, जो समता पर आधारित थी। विज्जियन के आदिवासी लोग और उत्तरी लोग समता आधारित अपनी स्वतंत्रता के लिए वर्णों के विरुद्ध लड़े। आर्यों के साम्राज्यों द्वारा उन्हें पराजित कर दिया गया (अर्थशास्त्र)। विजेताओं द्वारा वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव गांवों की आदिम (जनजातीय) व्यवस्था पर जाति की असमानता के रूप में पड़ा। आर्यों की उच्च संस्कृति के प्रभावस्वरूप जाति-व्यवस्था और इसके उप-विभाजन बाद में अपनाए गए। तीनों उच्च वर्णों में कई जातियां थी। पंचमों की अनुकृति स्वरूप वे कई जातियों में विभाजित हो गए। इसके साथ भिन्न-भिन्न किस्म के गंदे कामों को करने के आधार पर श्रम-विभाजन हो सका।

पूर्वोक्त के समानांतर भारोपीय आर्यों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों आदि की व्यवस्था का उदय हुआ, जहां शासक-वर्ग भी समान कार्य करता था।

यूरोपीय व्यवस्था-भारतीय व्यवस्था से केवल इस तरह भिन्न थी कि वहां उच्च-वर्ण में संक्रमणशीलता थी (गतिकी थी)। ब्राह्मण पुरोहितों में विद्यमान सख्त सगोत्रीय विवाह-पद्धति, आनुवंशिक रूप से पुरोहितों को सुरक्षित रखने के साथ इस बात को भी सुनिश्चित रखने के लिए थी कि एक पीढ़ी से लाभ देसरी पीढ़ी को ही जाए और इस तरह व्यवस्था में नए लोगों का प्रवेश रोका जा सके। कैथलिक पुरोहितवाद में स्व-आरोपित ब्रह्मचर्य उर्ध्व गतिकता को अनुमति देता है। येमोन भी पुरोहित, सामंत या और भी कुछ बन सकते थे (हैं)। भारोपीय आर्य-वर्ग सगोत्रीय विवाहों के द्वारा एक बंद व्यवस्था में रहते हैं, जिसमें नए लोगों का प्रवेश वर्जित किया गया है। द्रविड़ीय गांवों की सामाजिक-व्यवस्था में जाति-व्यवस्था इस पर एक आरोपित व्यवस्था के समान थी।

जिस तरह पश्चिम में पुरोहितपन, सामंत और येमोन की व्यवस्था है, उसी तरह आर्य सभ्यता ने भी इसे विकसित किया। जिस तरह पश्चिम में 'सर्फ' होते थे, बिल्कुल उसी तरह द्रविड़ों के ऊपर विजय के बाद भारत में दास या शूद्र थे।

उत्तर भारत में इस तरह की गतिविधियों के साथ आर्य कबीलों ने धीरे-धीरे मध्य और उत्तरी भारत पर अपनी बढ़त जमा ली। साथ ही साथ अपनी आबादी में भी बढ़ोत्तरी की और इस तरह उत्तर-पश्चिम क्षेत्र से लोग अधिक-से-अधिक इस व्यवस्था में सम्मिलित हुए और उत्तर क्षेत्र के आदिवासियों के विरुद्ध प्रतिरोध की शुरुआत की। हमें पशुचारण सामाजिक-व्यवस्था में आए परिवर्तनों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

आर्य साहसी चिंतक थे। ऋग्वेद उनकी प्रारंभिक बौद्धिकता का ही प्रतीक है। वे अच्छे जीवन से प्रेम करते थे। वे विश्वास करते थे कि प्रकृति की आत्मा अथवा वर्षा, अग्नि, हवा और अन्य देवता तब उनके पक्ष में कार्य करेंगे, जब वे उनको अच्छे भोजन और उपहारों की भेंट चढ़ाएंगे और उनकी प्रार्थना करेंगे।

आर्यों में पुरोहित-वर्ग का उदय यज्ञ-कार्य संपादित करने और प्रार्थनाएं करने के लिए हुआ। बाद में प्रार्थनाओं में विशिष्ट किस्म की बलि आदि दी जाने लगी। इसके साथ-साथ मंत्र आदि से देवताओं आदि को प्रसन्न करने का भी प्रयास शुरू हुआ। मंत्र इस बात को प्रतीकित करते थे कि पुरोहित देवताओं से क्या प्राप्त करना चाहते थे।

धीरे-धीरे मंत्र विशिष्ट अर्थों में परिवर्तित होने लगे, जिनका उच्चारण केवल पुरोहित ही कर सकता था। इस तरह से पुरोहितों की शक्ति में सतत् प्रसार हुआ। जानवरों और घोड़ों के रूप में उन्हें संपत्ति दी जाती थी।

हम पूरे इतिहास का लेखा-जोखा जीवन के संघर्ष के एकरेखीय सूत्र में नहीं कर सकते। मनुष्य और जानवर के बीच मुख्य अंतर यह है कि मनुष्य उत्पाक है, वहीं जानवर संग्राहक है। मनुष्य का इतिहास अस्तित्व के लिए संघर्ष मात्र नहीं है।

पूर्व वैदिक आर्यों का आर्थिक-जीवन पशुचारण पर आधारित था। इसके विपरीत द्रविड़ों का आर्थिक-जीवन कृषि पर आधारित था। इसलिए स्वाभाविक रूप से पुरुष-सत्ता का उदय हुआ। पशुओं के बड़े-बड़े रेवड़ों को मात्र कुछ व्यक्ति नियंत्रित करते थे। बाकी बचे व्यक्ति कबीले के प्रमुख के नेतृत्व में संगठित होते थे और दूसरे कबीलों से लड़ते थे, उनके पशुओं को छीन लेते थे। इस तरह से इनमें भी एक योद्धा-वर्ग का उदय हुआ। साथ ही साथ कबीले के प्रमुख का राजा के रूप में विकास हुआ।

प्रकृति की अनुकंपा प्राप्त करने हेतु), बलि या मंत्रों द्वारा। प्रकृति को अदृश्य ईश्वर की शक्ति का प्रसार माना गया। द्रविड़ पुरोहितों या जादूगरों या तांत्रिकों के लिए इसने एक भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण दिया। प्रकृति अति प्राकृतिक नहीं है, इस विषय पर भी व्यक्ति अनुमान लगाने में सक्षम हो सकता है, श्रम या कार्य प्रकृति को उत्पादक बना सकता है, वहीं जादू इस उत्पादन में और वृद्धि कर सकता है, क्योंकि द्रविड़ पुरोहितवाद का भौतिकवादी दृष्टिकोण इसे उस तरह के काम के प्रति असंलग्न नहीं कर सका, जिस तरह से आर्यों में यह हुआ। इसी तरह की पद्धति का विकास चीन के ताओवाद में हुआ, अथवा दक्षिण भारतीय सामाजिक विकास में संग्गाकलाई सनरोरेस में था। संग्गाकलाई सनरोरेस बाद में चलकर दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों के रूप में विकसित हुआ। भारत की संरचना और इसी तरह राजा की सत्ता, दो संस्कृतियों द्रविड़ और आर्यों की अंतर्क्रिया का परिणाम है। आर्यों ने जातिप्रथा को द्रविड़ों के ऊपर आरोपित किया।

बाद में कृषि-क्षेत्र में विकसित हुई 'मरुधन संस्कृति' का तात्पर्य विनिमय के लिए वस्तुओं का उत्पादन करना था, जो व्यापारियों, शासकों और ब्राह्मणों के साथ विकसित हुई। बड़े शहरों का विकास उनके वर्गीय विभाजनों को ध्यान में रखते हुए ही हुआ। उत्तर में हुआ धार्मिक व दार्शनिक विकास एक प्रकार से प्रोटो टाइप है, और इसमें किसी भी क्षेत्र में कुछ भी मौलिकता नहीं है। उनके वास्तविक देवता चिरकाल तक आर्य देवता ही रहे, जो हमेशा केंद्रीय भूमिका अख्तियार किए रहे। उपनिषद की तरह का कोई भी दार्शनिक समझौता सामने नहीं आया, जो यह इंगित करता है कि वर्गीय व्यवस्था को उत्तर क्षेत्र से अपनाया गया। प्राचीन तमिल भाषा में लिखे गये साहित्य पूर्णतया ऐहिक (सांसारिक) हैं और वास्तविक जीवन से संबद्ध हैं। इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण हैं कि तमिल, बौद्ध और जैन साहित्यिक परंपरा को अपना सकते थे, लेकिन उन्होंने इन आदर्शवादी दर्शनों की भ्रमात्मकता को नहीं अपनाया। यह बात द्रविड़ों की भौतिकवादी भावना में भी देखी जा सकती है। बाद में तमिलों में विकसित हुई संस्कृति की जड़ें आर्य-सभ्यता में है, जिसे उनके द्वारा महाकाव्यों और सिद्धांतों को अपनाए जाने के रूप में देख-समझ सकते हैं।

tkfr vkj bl ds fo#) | ?k"kl

अतीत के समस्त प्रयत्न जातिप्रथा का उन्मूलन दो कारणों से नहीं कर पाए। व्यक्ति के अंतःकरण में विद्यमान जाति के प्रति कट्टरतापूर्ण जुड़ाव ने इस पतित स्थिति को बढ़ाया है, और इस प्रवृत्ति की मित्र गांवों की सामंती उच्च व निम्न जातियां हैं। इन सामंती जातियों ने समाज के बहुसंख्यक वर्ग को धनी वर्ग के हितों को पूरा करने के लिए दमित कर रखा है। इसके साथ जाति का वर्ग में संक्रमण हुआ है और धर्म व अंधविश्वास ने जाति-प्रथा के इस रहस्य को बढ़ावा दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों के राजनीतिज्ञ भी इस मामले में कम दोषी नहीं हैं। निम्न बहुसंख्यक वर्ग का सांस्कृतिक पिछड़ापन इस वर्ग का सबसे बड़ा शत्रु है। यह उसी प्रकार उनका भीषण शत्रु है, जैसे कि इस वर्ग का गांवों की अर्द्ध आदिम संस्कृति से रहस्यात्मक जुड़ाव है। उनके काम करने और जीवन जीने के ढंग, उनके आदिम रीति-रिवाज, उनके देवता और अंधविश्वासों को अज्ञानतापूर्वक अपनाने के कारण वे स्वाभाविक रूप से जाति से चिपके हुए हैं। सरकार व स्थापित राजनीतिज्ञों के अपने स्वार्थों के कारण यह आंतरिक इच्छा होती है कि जातिप्रथा बनी रहे। इसके साथ-साथ इस व्यवस्था को बरकरार रखने में वह लोग भी जिम्मेदार हैं, जो अपनी भ्रमित चेतना के कारण संवेदनशीलता के साथ जातिप्रथा से जुड़े हुए हैं। इसके साथ-साथ जो लोग इस प्रथा का उन्मूलन करना चाहते हैं, वह भी कभी इसके विरुद्ध सामने नहीं आते हैं। मैं नहीं जानता कि हमारे संविधान में जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए अनिवार्य सिद्धांत बनाया गया है या इसका नीति-निर्देशक सिद्धांतों में उल्लेख किया गया है। सरकार के समस्त सुधारों और कल्याणकारी उपायों का उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विषमताओं को दूर करना है, लेकिन इसका उद्देश्य जातिप्रथा का उन्मूलन करना कभी नहीं रहा है। इसकी अपेक्षा सचेतन रूप से या

llkjrhl; nfyrl kfgl; %foopuk

असचेतन ढंग से वे अपनी शक्तिसंपन्नता को बरकरार रखने के लिए जातिप्रथा को सुरक्षित रखना चाहते हैं। प्रत्येक भारतीय जाति-व्यवस्था में ही जन्म लेता है। कुछ लोग जो इस प्रथा से बाहर आ गए हैं, उन पर सरकार अप्रत्यक्ष रूप से दबाव बनाती है कि वे अपने और अपने बच्चों के हितों के लिए इससे (जाति-व्यवस्था से) बाहर नहीं आएँ।

हम जानते हैं कि जातिप्रथा का उन्मूलन सरकारी आदेशों से नहीं हो सकता है। न ही इस बुराई का अंत परिवर्तन के लिए जिम्मेदार वर्गों पर दबाव डालकर किया जा सकता है। हम जानते हैं कि जातिप्रथा का जन्म इसके अपने आर्थिक आधारों पर हुआ और समय के साथ यह एक बुराई का रूप लेकर आधार-संरचना से अधिसंरचना में व्याप्त हो चुकी है। हमारा अनुभव यह भी रहा है कि अधिसंरचना को संबोधित इस संदर्भ में समस्त आंदोलन असफल हो चुके हैं।

चारागाह-भूमि की रक्षा के साथ अन्य चारागाह-भूमियों के अधिग्रहण के लिए योद्धा-वर्ग का उदय हुआ। उसके कार्यों में अन्य गणों या कबीले के पशुओं पर कब्जा कर लेना भी था। इस तरह जो लोग महान योद्धा थे, वे क्षत्रिय कहलाए। वहीं पुरोहित-वर्ग का विकास ब्राह्मण के रूप में हुआ। पहले उनके विवाह बहिर्गोत्रीय होते थे, जो बाद में तब सगोत्रीय होने लगे, जब विशेष वर्ण या वर्ग के ऊपर सीमाओं का आरोपण किया गया। शुरुआती दिनों में ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों में विवाह होते थे, लेकिन बाद में यह प्रतिबंधित हो गया शेष व्यक्तियों को वैश्य श्रेणी के अंतर्गत रखा गया।

यह परिणाम निकालना उचित है कि वे लोग अब तक कृषि-सभ्यता में नहीं पहुंचे थे। धातु का आविष्कार होने पर युद्ध के लिए हथियार, बर्तन और घर बनाने के साथ वे लोग कृषि-सभ्यता में पहुंचे। व्यापार के लिए जानवरों, घोड़ों के साथ निर्मित वस्तुओं ने वैश्यों के साथ उत्तर-पश्चिम भारत के लोगों की मदद की, और इन लोगों ने दस्युओं को पराजित कर उनकी संपत्ति पर अधिकार जमा लिया।

एक वर्गीय-संरचना के रूप में राज्य का निर्माण आर्य नस्ल द्वारा किया गया। द्रविड़ जनजातियां और आर्यों के बीच भयानक संघातिक युद्ध हुए। दस्युओं के विरुद्ध आर्यों को शक्तिसंपन्न करने के लिए जनजातीय लोगों को एकबद्ध किया गया। इस लंबे युद्ध में दस्युओं को तभी हराया जा सकता था, जब उनका प्रतिपक्षी अधिक शक्तिशाली हो, श्रेष्ठ नेतृत्व-क्षमता के साथ हो या धूर्तता करने योग्य हो।

tkfr vkj o.kl ; k oxl dk l fleyu

यह सम्मिलन तब होना शुरू हुआ, जब आर्यों ने द्रविड़ों को हरा दिया। यह स्थिति तब निर्मित हुई, जब आर्यों का सामाजिक विकास द्रविड़ों से आगे का था और वे राज्य सामाजिक-व्यवस्था में प्रवेश कर चुके थे। जबकि इसी समय द्रविड़ प्रति-राज्य या राज्यहीन कृषक सामाजिक संगठन में रह रहे थे, जहां अतिरिक्त उत्पादन नहीं होता था, जिस प्रकार आर्यों के संगठनों में होता था।

भारोपीय आर्यों के लिए कृषि एक अपरिचित कृत्य था। चरवाहों का जीवन बिताने वाले ये लोग एक आक्रामक संस्कृति के वाहक थे। उनके समाज के वर्गीय-चरित्र ने उन्हें कबीलाइयों को जीतकर कस्बों और शहरों के विकास के लिए प्रेरित किया। कलाकारों और हस्त शिल्पकारों की मांग अब बहुत बढ़ गई। आदिवासी गांवों के उखड़े हुए लोगों को कैद कर लिया गया और यह कस्बे और शहरों के पहले केंद्र बने। हम निश्चिंत होकर कह सकते हैं कि वे लोग अपने जातीय जुड़ाव के साथ ही वहां आए। वे जो कुछ उत्पादित करते थे, वह उनके प्रयोग के लिए नहीं होता था। लेन-देन पर आधारित नियमित व्यापार (Better) ने अतिरिक्त उत्पादन (Surplus) का सृजन किया।

आर्य वर्णिक व्यवस्था के पुरोहितों और शासक-वर्ग की अपेक्षा व्यापारियों ने शिल्पकार जातियों को जन्म दिया। बाद में ये लोग वर्ण-व्यवस्था में वैश्यों के रूप में सम्मिलित हुए। व्यापार के द्वारा उत्पादित की गई संपत्ति ने वैश्यों के स्तर में बढ़ोत्तरी की। उन्हें दो शोषक-वर्गों में स्थान प्राप्त हो गया। स्वाभाविक रूप से ये लोग जातिप्रथा को साथ लेकर आए थे।

अन्य महत्वपूर्ण उत्पादक जातियां जैसे दस्यु और शूद्र भी वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत आ गईं। जिन लोगों ने जाति-व्यवस्था में बाद में प्रवेश किया, उन्हें राज्य शासक-वर्ग द्वारा निम्न जातियों के अंतर्गत रखा गया। हम तार्किकता के आधार पर निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इन गैर-उत्पादक जातियों के लिए आदिवासी ग्रामीण समुदाय में कोई स्थान नहीं था।

अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि किस तरह से वर्णिक व्यवस्था में कई अन्य उप जातियों की उपस्थिति हुई।

धर्म पुरोहित-वर्ग के विशेषाधिकार में तब्दील होता गया। ब्राह्मणों ने इस वर्ग की गतिविधियों को विस्तृत किया। अब उन्होंने राज्य की सभाओं में स्थान प्राप्त करने के साथ उसके धार्मिक दायित्वों को निभाना शुरू किया। बाद में कई अन्य सामाजिक कार्य जैसे विवाह, मृत्यु-संस्कारों को कराने के साथ इन सभी ने ज्योतिषी या अध्यापक की भूमिका निभानी भी शुरू की। इन लोगों ने शोषण के कई तरीकों को खोज निकाला था। साथ-ही-साथ अधिरचना से संबद्ध कई पेशों का सृजन कर लिया था। इन भिन्न-भिन्न व्यवसायों को करने वालों को ब्राह्मण-वर्ग के अंतर्गत ही भिन्न-भिन्न नाम दिए गए।

नयाकाडू, पडयाट्ची, मारवा, जाट आदि नमों वाली कई योद्धा-जातियों का उदय हुआ। इन जातियों का उदय निम्न वर्गों के शूद्रों के द्वारा हुआ और इन्हें कृषक-जातियों के साथ शूद्रों में भी उच्चावच्च क्रम में सर्वोच्च स्थान दिया गया।

इस तरह से दो भिन्न संस्कृतियों के सम्मिलन से जनजातीय ग्रामीण समाज की अच्छाइयां लुप्तप्राय हो गईं और वर्गीय समाज-संरचना के नकारात्मक रास्ते पर यह अग्रसर हो गया, जो उत्पादकों या जोतदारों के अतिरिक्त श्रम/उत्पादन को हड़पने के लालच पर आधारित था।

लेकिन जनजातीय ग्रामीण समाज में अछूतों या पंचमों का उदय बाद में हुआ, जब सामंती-व्यवस्था अत्यधिक शक्तिशाली हो गई। यदि हमारे देश में इन अभागों का उद्धार होना है, तो इन्हें उन जंजीरों से मुक्त होना होगा, जो उन्हें गांवों से बांधे हुए हैं। इससे मुक्त होकर उन्हें कस्बों के कारखानों का रुख करना होगा।

ध्यान रखना चाहिए कि सरकार द्वारा इस कुरीति का उन्मूलन करने के लिए अपनाए जाने वाले उपायों ने जाति-प्रथा के स्थायीकरण को ही बढ़ावा दिया है। यही स्थिति अछूतों के विषय में भी है।

अपनी वर्णिक व्यवस्था के साथ नस्लों का द्रविड़ जाति-व्यवस्था से सम्मिलन हुआ, और इस अंतर्क्रिया द्वारा बिल्कुल अनपेक्षित परिणाम प्राप्त हुए हैं। धीरे-धीरे वर्णिक व्यवस्था के भीतर उपजाति-व्यवस्था का उदय हुआ। आदिम ग्रामीण व्यवस्था के लोग आर्यों द्वारा पराजित होने पर पहले तो दस्यु के रूप में पहचाने गये, बाद में मनु द्वारा उन्हें शूद्र के रूप में अपनाया गया। अछूत ग्रामीण जाति-व्यवस्था के लिए मनु द्वारा दिया गया उपहार है। जिन्हें मनु-संहिता में पंचम के नाम से पांचवें वर्ण में रखा गया-द्रविड़ों की जाति-व्यवस्था से पृथक अवांछित, अवैध व्यक्ति के रूप में।

हकजर; नफर । कफर; %फोपुक

आदिम स्थिति में जातिप्रथा प्रकृति की संहारक शक्तियों के विरुद्ध व्यक्तियों के एकजुट होने का माध्यम थी। वहीं बाद में इसने अपना रूप इस तरह परिवर्तित किया कि इसने व्यक्ति को व्यक्ति के विरुद्ध खड़ा कर दिया। आधार-संरचना पर अधिसंरचना के सोचे-समझे प्रभाव स्वरूप जाति-प्रथा को इसकी प्राथमिक भावना के विरुद्ध ही कर दिया।

धीरे-धीरे इस बुराई ने अपना प्रभाव जमा लिया। हम संगम-साहित्य में आदिवासियों के कुरुंजी से मुल्लई तक के परिवर्तन में, मुरुधम अवस्था तक नए-नए पेशों (व्यवसायों) के साथ जातिप्रथा में प्रवेश करते गए। शूद्र जातियों में विद्यमान उच्चावच्च क्रम का होना निश्चित जाति की शोषक स्थिति को प्राप्त रखने की कोशिश है, बल्कि आधार-संरचना में प्रविष्ट जाति की अधिसंरचना में प्रवेश करने की भी कोशिश है। विषयगत रूप में अधिसंरचना ने सांस्कृतिक रूप से जातीय विवाह पर भी इसका प्रभाव डाला है।

vx: fodk

हम देखते हैं कि ग्रामीण समाज के उत्पादक संबंधों के अंतर्गत जाति का जन्म तब हुआ, जब आदिवासियों के भोजन-प्राप्ति का तरीका बदला यानि वे भोजन-संग्राहक से भोजन-उत्पादक के रूप में तब्दील हो गए।

व्यक्ति की नैसर्गिक आवश्यकता भोजन है, लेकिन मनुष्य की चाह होती है कि वह उन चीजों को प्राप्त करे, जिससे उसका जीवन आरामदायक, सुविधाजनक हो जाए। यह स्थिति तब से ही है, जब से मनुष्य ने अपने अस्तित्व के लिए भोजन-संरक्षण करना शुरू किया और गुफाओं आदि में पनाह ली। धीरे-धीरे उसने झोपड़ा और बाद में घर बनाना सीखा। ईंटें और बर्तन मिट्टी से बनते थे। धातु का प्रयोग शुरू होने पर मनुष्य ने हथियार और काम में आने वाले विभिन्न औजारों को बनाना शुरू किया। परिणामस्वरूप कला और हस्तशिल्पों की विविधता सामने आई। साथ-ही-साथ इस प्रत्येक विभिन्नता ने जाति के नाम पर श्रम-विभाजन शुरू किया और विवाह आदि के मामलों में भी संस्तरीकरण व्यापक हुआ।

व्यक्ति को संतुष्टि की चाह होती है। बच्चों को यह सिखाने के लिए कि किस तरह से हिरन का शिकार किया जाए गुफाओं में चित्र बनाए जाते थे। जानवरों को भगाने के लिए ढोल आदि बजाए जाते थे, जिसका बाद में लयबद्ध संगीत की कला के रूप में विकास हुआ। मनुष्य शिकार के दौरान भिन्न-भिन्न किस्म की जो अवाजें निकालते थे, वही बाद में नृत्य और गायन के रूप में विकसित हुईं। इसी सामान्य तर्कानुरूप हम समस्त श्रम-क्रियाओं के विकास को देख-समझ सकते हैं। संपत्ति का भी विकास हुआ। साथ-ही-साथ शोषक-वर्ग ने अपना मनोरंजन करने वालों को ईनाम देना शुरू किया। शासक -वर्ग ने उन लोगों पर दबाव डाला कि वे उनका मनोरंजन करें, और उन पर निर्भर रहें। इस तरह सांस्कृतिक जातियों का उदय हुआ। देवदासी या मंदिर की वेश्या, गणिका बाद में नृत्यांगना और इसी तरह अन्य लोग निम्न जाति के शूद्रों से संबद्ध थे। इनका उदय अधिसंरचना से हुआ और यह गैर-उत्पादक जातियां थीं।

इसी के साथ-साथ शासक जातियों का उदय हुआ। योद्धा-जाति, पुरोहित-जाति, शिक्षित-जाति, जिनकी शुरुआत में बहुत अल्प संख्या थी, बाद में उनमें से कुछ जैसे योद्धा-जाति ने कृषि-कार्य अपना लिया और प्रमुख जाति के रूप में सामने आए। उत्तर में इन योद्धा-जातियों ने क्षत्रिय-वर्ग में स्वयं को समाहित कर लिया, और सामाजिक जाति-संरचना के उच्चावच्च क्रम में स्वयं को उच्च शासन पर स्थापित कर लिया। वहीं दक्षिण में, जहां वर्णिक वर्ण-संरचना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थी, वहां इन लोगों ने स्वयं को जाति-संरचना में समाविष्ट कर लिया और शूद्रों

वे रूप में जाने जाने लगे। इसका एक अच्छा उदाहरण वन्नियारस, मारवा, नयूडूस, लायकर्स, थोहीयर्स आदि का है। शूद्र जातियों में भी जिसने भूमि पर अधिकार कर लिया, वह ऊंची जाति में सम्मिलित हो गया। वहीं शिल्पकार निम्न जाति से संबद्ध रहे।

भविष्य के विकास में जाति कर्म के साथ अपने आधारभूत संबंध को खो चुकी है और इससे पूर्णतः विपरीत दिशा में है। इसकी शारीरिक श्रम से शुरुआत हुई, गैर श्रमिक परिस्थितियों में इसका विकास हुआ और शारीरिक श्रम के विरोध में अपने चरम पर पहुंचा। एक उद्देश्यिक घटनाक्रम की स्थिति से यह विषयगत घटनाक्रम में तब्दील हो गया, जो पूर्णतया जन्म के द्वारा नियंत्रित होता था। जन्म द्वारा जातिगत नियंत्रण के कारण विवाह प्रतिबंधों को स्थापित किया गया, जिससे एक जाति का दूसरी जाति से संबंध होता था।

उद्देश्यिक घटनाक्रम से विषयगत घटना में जाति की तब्दीली ने अपने विरोधाभासों से अपनी अंतर्क्रिया की, अधिकतर उद्देश्यपूर्ण ढंग से और कभी-कभी अनुद्देश्यपूर्ण ढंग से। जिसका तात्पर्य यह था कि जिसका गैर-श्रमिक जाति में जन्म हुआ, वह सर्वोच्च-जाति का कहलाया। वही जो श्रमिक-जाति में जन्म लेता था, वह निम्न जाति में वर्गीकृत होता था। तब यह बुराई कैसे परिवर्तित होगी?

ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज ने इसे परिवर्तित करने की कोशिश की, और सभी को एक धर्म के अंतर्गत लाने का प्रयास किया, एक जातिहीन धर्म के अंतर्गत। वे असफल हुए। आंबेडकर और अन्य लोगों के दलित आंदोलनों के साथ पेरियार और उनके अनुयायियों के स्वसम्मान आंदोलन के साथ कुछ उपलब्धियां तो प्राप्त कर सके। कम-से-कम इस बात की चेतना तो उत्पन्न ही कर सके कि आर्थिक बेहतरी के लिए शिक्षित होना जरूरी है। धर्म, ईश्वर, रीति-रिवाजों और संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में उनका दृष्टिकोण समान था। निम्न जातियां अर्द्ध आदिवासी जातियां थीं, जिनका उदय सामाजिक जरूरतों के कारण हुआ। जब समाज परिवर्तित होगा, तब सामाजिक आवश्यकताओं के चलते जाति-प्रथा दूर होगी। लेकिन सुधारकों की इच्छा से सामाजिक-परिवर्तन नहीं होता। वह लोग, जिनका वर्गीय दमन होता है, उन्हें वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहिए। जातिप्रथा उन्मूलन के लिए सरकार द्वारा किए जाने वाले झूठे प्रयासों की जगह हमें ठोस उपायों को सुझाना चाहिए। हमें बहुसंख्यक जनता की भावनाओं को सही दिशा में परिवर्तित करने के लिए उभारना चाहिए।

आगे मेरे द्वारा कुछ सलाहों का उल्लेख किया गया है, जो पीड़ितों को आकर्षित करेंगी, क्योंकि ये अप्रत्यक्ष रूप से उनके दीर्घकालिक हितों को पूरा करेंगी।

निम्न जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण इस परिवर्तन के लिए अधिक जिम्मेदार हैं। ब्राह्मण भी अपनी जाति-व्यवस्था में विवाह करने के लिए दहेज देने के लिए अभिशप्त हैं। साथ-ही-साथ उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रवेश के लिए और व्यवसायों के लिए भी उन्हें धन देना पड़ता है। ब्राह्मणों और उच्च-वर्ग में व्याप्त इस समस्या के हल के लिए उन्हें निम्न जाति विवाह को स्वीकार करना चाहिए। उच्च जाति के व्यक्ति को निम्न जाति के व्यक्ति से विवाह करने पर ईनाम मिलना चाहिए।

स्कूल या व्यवसाय में प्रवेश करने के लिए जाति के तीन वृहत्तर विभाजन होने चाहिए : उच्च जाति, मध्यम जाति, निम्न जाति और जातिहीन। अंतर्जातीय विवाह करने वाले व्यक्तियों के बच्चों को जातिहीन श्रेणी में रखना चाहिए, और उन्हें निम्न जाति के बच्चों को प्राप्त होने वाले लाभ देने चाहिए।

हलकलरु; नलरु । कलरु; % फुलुक

उच्च व मध्यम जातियों में जाति के अंतर्गत होने वाले विवाहों पर व्यक्ति की संपदा के अनुपात में कर आरोपित करना चाहिए। इस कर से अंतर्जातीय विवाह करवाने चाहिए। इन विवाहों में होने वाले खर्च को पूर्वोक्त खाते से ही लेना चाहिए।

गांवों में निम्न जातियों की गतिकता को बढ़ाने के लिए अनुदान आदि देना चाहिए, जिससे जाति जैसी व्यवस्था का उन्मूलन हो सके। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए सार्वजनिक और निजी उद्योगों के लिए कानून बनाना चाहिए, जिसमें उन्हें बाध्य किया जा सकता है कि पूर्वोक्त चारों श्रेणियों में से श्रमिकों की अनुपातगत भर्ती की जाए।

निम्न जातियों में कभी अलगाव की भावना नहीं विकसित होने देनी चाहिए। गांवों में अंतर्जातीय विवाह द्वारा निम्न जातियों में प्रवेश करने वालों को वह सभी लाभ देने चाहिए, जो निम्न जाति के अनुसूचित जाति के लोगों को प्राप्त होते हैं।

सभी किस्म के दस्तावेजों पर से जाति के नाम का उल्लेख वर्जित कर देना चाहिए।

इस तरह से क्या हासिल होगा? वर्गहीन समाज की आवश्यकता से ही जाति विस्मृत हो पाएगी, जबकि ध्यान रखना चाहिए कि शासक-वर्गों के लिए ही जाति की आवश्यकता होती है जाति के उन्मूलन के लिए संघर्ष करने के लिए आवश्यक है कि उन लोगों को आर्थिक लाभ दिया जाए, जो इसके उन्मूलन का प्रयास कर रहे हैं। सरकार से प्राप्त होने वाले फायदों का इसके उन्मूलन के लिए प्रयोग करना चाहिए। मीडिया को भी धर्म-निरपेक्ष होकर संविधान का सम्मान करना चाहिए। सरकार के साथ निजी आर्थिक संस्थानों को निम्न जाति के अछूत वर्गों की गतिकी को बढ़ावा देना चाहिए।

खलकल । फ

- 1) देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय — लोकायत
- 2) स्टेअर्ड पिंगर — प्रीहिस्टारिक इंडिया
- 3) इमानुवेल टेरी — मार्किरुज्म एंड प्रिमिटिव सोसायटी
- 4) राहुल सांकृत्यायन — हिंदू फिलॉसोफी
- 5) राहुल सांकृत्यायन — बुद्धिस्ट फिलॉसोफी
- 6) गुना — ओरिजिन ऑफ कार्स्टिज्म
- 7) राहुल सांकृत्यायन — वोल्गा टू गंगा
- 8) गेल ऑबेट (संपा.) — कार्स्ट, क्लास एंड लैंड इन इंडिया
- 9) डॉ. केशवन — मनुमम ममथा उरवूगलूम

युकल

के.वी. रमन्ना-जन्म 23 मार्च, 1927 को आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले के एक गांव में। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से इतिहास व राजनीति विज्ञान विषय में परास्नातक 50 के दशक में राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिविधियों में प्रवेश,

अभ्युदय रचना संघम (ARASAM) के अलावा अखिल भारतीय विप्लव सांस्कृतिक समिति, भारत-चीन मित्र मंडल सहित आंध्र प्रदेश मानवाधिकार संघ में सक्रिय सदस्य रहे। तेलगू व अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों का लेखन, पुस्तकों में कई कविता-संग्रह भी।

पी.एन.रंगास्वामी – दक्षिण भारत के प्रसिद्ध राजनीतिक व सांस्कृतिक कर्मी।

vupknd

रितु गुप्ता –शुरुआती अध्ययन रांची विश्वविद्यालय से. उच्च अध्ययन महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा में, वही शोध-कार्य में संलग्न।

I à knd

जीतेन्द्र गुप्ता-शुरुआती अध्ययन कानपुर विश्वविद्यालय में, बाद में कुछ वर्ष महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में पिछले 5-6 वर्षों से हिंदी व हिंदी साहित्य के इतिहास, भूगोल के साथ उसके अर्थचक्र को समझने की कोशिशों में मुब्तला, कुछ लेख व अनुवाद प्रकाशित. वैश्वीकरण से संबंधित पुस्तकों की एक श्रृंखला का अनुवाद, संवाद प्रकाशन से प्रकाशित।

ftUga fonkg djuk Fkk(mUgkaus ugha fd ; k

&ckcjko ckxy

¼ck\$) I kfgR; I Eesy] egkM] 1971½

आप लोगों ने मुझे काफी प्रेम दिया है, इसे मैं भूल नहीं सकता। मैं भी आप लोगों पर तुकाराम के जैसा प्रेम करता हूँ। मैंने मेरे लेखन का नायकत्व आपको प्रदान किया है। आपका ही चरित्र गान करने का मैंने निश्चय किया है। क्योंकि आपका गीत आज तक किसी ने गाया ही नहीं। आपका गीत गाने वाला कोई नहीं था ऐसा नहीं है, परन्तु यह सही है कि जिन्हें आपके गीत गाने चाहिए थे, वे स्वतन्त्र नहीं थे। मेरा गला, मेरी आवाज स्वतंत्र है। इस कारण आपके गीत गाने का मैंने निश्चय किया है। इस दुर्भाग्यशाली देश में आपका और मेरा जन्म हुआ है और हम पहले से एक ही दुःख में बंदिस्त थे। अब हम सबको प्रकाश मिला है। परन्तु आज भी अस्पृश्यता गई नहीं है। दुःख समाप्त नहीं हुआ है। इसलिए दलित साहित्य भी कभी समाप्त नहीं होगा। अस्पृश्यता, दासता, विषमता और दुःखों से दलित साहित्य का बैर है। जब तक अस्पृश्यता, दासता इस देश में और विश्व में रहेगी तब तक दलित साहित्य रहेगा, यह निश्चित है। मनुष्य की मुक्ति के गीत गानेवाला, मनुष्य को महान मानने वाला, वंश, वर्ग और जाति श्रेष्ठत्व का कठोरता से विरोध करने वाला जो साहित्य होता है, वह दलित साहित्य है। इसके पूर्व कभी मेरे एक मित्र ने हमें गालियाँ हमें दी थीं कि हम वंशवादी हैं। हम पहले से कहते रहे हैं कि "हम वंशवादी कैसे हो सकते हैं? वंश और वंशवाद कितना भयंकर होता है, इसका हमें अनुभव है। इसलिए हम उसका विरोध करते हैं। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने जब से अपने आंदोलन का प्रारम्भ किया तब से हम वर्ण और वंशवाद का विरोध कर रहे हैं। इसके अनेक सबूत हमारे पास हैं।

हम तुच्छतावादी नहीं हैं। हमारे लेखन में किसी भी जाति के विरुद्ध प्रचार नहीं है। कुल मिलाकर हम इस विषम सामाजिक, मानसिक, तथा वैचारिक व्यवस्था के विरुद्ध हैं। यहाँ हमें काफी कठिन काम करना पड़ रहा है। यहाँ के सुधारकों एवं बुद्धिजीवियों को अपने-अपने शत्रु दिखाई दे रहे थे। उन्होंने जिनको शत्रु माना था अथवा जिनको वे शत्रु मान रहे थे, वे शत्रु उनके समक्ष थे। मार्क्सवादियों और समाजवादियों को उनके शत्रु दिखाई देते थे। अनेक राजनीतिक दलों को उनके दुश्मनों की पहचान थी, परन्तु हमारा दुश्मन तो अदृश्य है। वह ग्रन्थों में, भाषा में, शब्दों में, विचारों में, मन में है। हमारा दुश्मन शक्तिशाली और सर्वव्यापी होकर भी अदृश्य है। इन अदृश्य दुश्मनों के साथ हमारा युद्ध चल रहा है।

यह युद्ध वैसे काफी वर्षों से अर्थात् ब्रिटिश सत्ता जब यहाँ थी तब से शुरू है। अनेक हिन्दू समाज सुधारकों ने इस अदृश्य दुश्मन पर प्रहार किया है। परन्तु वे प्रहार शक्तिशाली नहीं थे। इन सुधारकों को हिन्दू परिवार, उनमें भी मध्यवर्गीय हिन्दू परिवारों की उन्हें उन्नति करनी थी, वह उन्होंने की। उनके सुख-सुविधा की व्यवस्था की। यह सब कुछ करते समय उन सुधारकों को काफी छल सहना पड़ा। उन्होंने छल सहा भी और उसमें से मध्यवर्गीय हिन्दू परिवार की उन्नति का रथ आगे बढ़ता गया।

बड़े खेद से कहना पड़ता है कि, हमारे समाज सुधारकों ने सम्पूर्ण भारतीय समाज का विचार कभी किया ही नहीं। उल्लेखनीय है कि यूरोप के सुधारकों की तरह, यहाँ के सुधारक फाँसी पर नहीं गए। यहाँ परिवर्तन के लिए अनुकूल सत्ता नहीं थी। सत्ता अनुकूल होकर भी किसी भी समाज सुधारक ने सम्पूर्ण समाज की पुनर्रचना का एवं अस्पृश्यता नष्ट करने का विचार कभी किया ही नहीं। इसके पीछे उनकी जाति निष्ठता ही महत्वपूर्ण कारण था। उन्हें अपनी

जाति से बहिष्कृत किए जाने का डर था। उन्हें तो पहले से चली आ रही पारंपरिक व्यवस्था चाहिए थी; क्योंकि उस समाज रचना ने उन्हें जो चाहिए, वह दे दिया था। जिन्हें सब कुछ मिलता है, वे विद्रोह के विचार कैसे रख सकेंगे? और इसी कारण डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जैसे प्रखर एवं परिवर्तनकामी विचार किसी ने भी रखे नहीं।

भारतीय असन्तोष के जनक लोकमान्य तिलक और उनके साथी कार्य कर रहे थे, पर इन्हें भी बहिष्कृत किए जाने का डर था। यह उनकी सीमाएं थी और अपने भारतीय नेतृत्व का विशेष गुण भी। हमारा नेतृत्व आज भी शिक्षा और अन्य सुविधा न होने के कारण सीमित है। हिन्दू संस्कृति और धर्म तो सभी को समान अवसर और शिक्षा देने का विरोधी है। राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास देखा जाए तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि जब-जब किसी जाति को शिक्षा के अवसर मिलते रहे, तब-तब उस जाति में नेतृत्व निर्माण हुआ और यह नेतृत्व एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ता रहा। उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ना नहीं चाहिए। इस तरह के प्रयास किसी नेता ने नहीं किए। सभी लोगों का विकास हो, देश की उन्नति हो ऐसा विचार और कार्य किसी ने किया ही नहीं है। गाँधी जी भी इसके लिए अपवाद नहीं है। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के नेतृत्व में जैसे-जैसे अस्पृश्य संगठित होते गए, वैसे-वैसे ही राष्ट्रीय सभा के मंच पर अस्पृश्यता का प्रश्न उठने लगा। इतिहास में ऐसा ही घटित हुआ है। अनेक प्रकार के धर्मों ने यहाँ एक दूसरों पर आक्रमण किए। लेकिन समाज में बदलाव लाने की किसी की इच्छा नहीं हुई। इसका कारण यह है कि हिन्दू समाज की रचना ही ऐसी है कि यहाँ सामान्य लोगों को उचित दर्जा नहीं है। उन्हें मनुष्य माना ही नहीं जाता। बाकी लोगों को जीने के अधिकार हैं लेकिन इन्हें नहीं। जिन्होंने आक्रमण किए वे आए, गद्दी पर बैठे। सत्ता के कारण धन उनकी ओर अपने आप आता रहा है। हिन्दू समाज की रचना हमेशा राजसत्ता की पूरक रही है। हिन्दू के अनेक तत्त्व सामंतावाद के पोषक हैं। इस कारण अस्पृश्यता को खत्म नहीं किया गया। उसे जैसे थी स्थिति में रहने दिया। क्योंकि शोषण की सर्वोत्तम व्यवस्था अस्पृश्यता के निर्माताओं ने कर रखी थी। यह सब कुछ तत्कालीन सत्ता तंत्र के अनुकूल ही था।

हम पहले से कहते रहे हैं कि हिन्दू धर्म ने सामन्ती व्यवस्था में जन्म लिया है। उसने सामन्ती व्यवस्था में स्त्री और गुलामों को कुछ भी स्थान नहीं था। हिन्दू धर्म में भी उन्हें कहीं भी स्थान नहीं था।

स्त्री और गुलामों को स्थान देने के लिए आज तक किसी ने भी अधिक प्रयत्न नहीं किए। हिन्दू सन्तों के कार्य का आज काफी गौरव किया जाता है, परन्तु हिन्दू सन्तों ने भी स्त्री और शूद्रों के लिए कभी आंदोलन नहीं किए। बावजूद इसके स्त्री के बारे में उन्होंने गलत प्रचार-प्रसार किया। स्त्री के बारे में नफरत पैदा हो, इस प्रकार का वातावरण निर्मित किया गया है। अस्पृश्यों को उन्होंने अपवित्र माना। किसी ने भी अस्पृश्यता के संबंध में चिन्तन नहीं किया। उल्टे वे अस्पृश्यता को स्वीकृति देते रहे। अपने सुन्दर और सामर्थ्यशाली शब्दों के माध्यम से विचारों का जहर उन्होंने घर-घर में, मन-मन में पहुँचाया और मानवता को तोड़ने की कोशिश की। एक भी सन्त ने कर्मवाद तथा, पुनर्जन्म का विरोध नहीं किया। आत्मा, स्वर्ग, नर्क यह क्या है? यह कभी पूछा नहीं गया। अपने आस-पास का दुख भगवान ने दिया है अथवा सामन्ती व्यवस्था के कारण मिला है, यह कभी देखा ही नहीं गया। वैसे तो यहाँ के सन्त राजसत्ता से बँधे हुए थे। यहाँ के सन्त अर्थसत्ता एवं राजसत्ता के नौकर बनकर काम करते हैं, ऐसा चित्र दिखाई देता है। यहाँ के कुशल और क्रूर रचनाकारों ने कुछ ऐसी रचना की थी कि उस रचना को सन्तों ने मान्यता दी और बहुत कठोर पद्धति से स्त्री की निन्दा की। स्त्री को तो उन्होंने काफी विचित्र और अलग पद्धति से चित्रित किया है। पुनर्जन्म, कर्मवाद और मनुस्मृति के कायदे-कानून इन लोगों को मान्य होते हैं। दूसरी ओर वे सामन्ती व्यवस्था और अस्पृश्यता का पुरस्कार भी करते हैं।

कारण आप खुद (दलित) हैं और दूसरा कारण आज तक का भारतीय साहित्य है। यहाँ आप लोग कैसे हैं, इस पर विचार होना चाहिए। वैसे तो आप बाबासाहेब के विचारों और आंदोलन से प्रेरित हैं। यहाँ जब चवदार तालाब का सत्याग्रह हुआ था, उस समय बाबासाहेब ने इस सत्याग्रह की तुलना फ्रेंच राज्यक्रान्ति से की तुलना की थी। चवदार तालाब सत्याग्रह के दौरान आयोजित सभी में समता, स्वतन्त्रता और भाईचारा व्यक्त करनेवाले विषय पारित किए गए थे।

महाड की सभा में बोलते समय बाबासाहेब ने कहा था कि, फ्रेंच राज्यक्रान्ति को बुरा कहकर यूरोप के इतिहासकारों ने आलोचना की थी। परन्तु मैं उस क्रांति को बुरा नहीं कहूँगा, कारण उस क्रांति से उत्पन्न हुए विचारों से यूरोप का भाग्योदय हुआ था। यूरोप का कल्याण हुआ था। बाबासाहेब का कहना था कि महाड की सभा से देश का कल्याण होगा।

आप लोग भी क्रान्तिकारक हैं। बाबासाहेब के विचार और आन्दोलन से आपने बहुत कुछ नकारने को सीख लिया है। आप लोगों ने रूढ़ियाँ, अन्धश्रद्धा, ईश्वर और धर्म को नकारा है। आप में यह नकारने की शक्ति ही बहुत कुछ है। नकार की यह शक्ति बहुत बड़े विचारकों में भी नहीं थी।

बड़े-बड़े सामजसुधारक भी बहिष्कार किए जाने के डर से घबरा गए थे। लोकमान्य तिलक ने लोगों के मतों के आगे झुक कर अपने आप को शुद्ध कर लिया था। आप लोगों ने मनुष्य को तोड़ने वाले संकेत जला दिए हैं। महाड के उस आंदोलन के दौरान आप लोगों ने अपूर्व हिम्मत दिखाई थी। जिस मनुस्मृति के आगे सभी शासक और सन्त नतमस्तक हुए थे, वही मनुस्मृति इसी महाड गाँव में जलाई गई थी।

अनेक अर्थों में आप लोग बड़े हैं। मार्क्स जिन क्रान्तिकारियों का वर्णन करता है, उन क्रान्तिकारियों के जैसे आप लोग हैं। इस कारण गौतम बुद्ध की परिभाषा में भी आप लोग सहज बैठते हैं।

आप लोगों में युग निर्माता की शक्ति है, इसका विश्वास हमें हुआ है। इसी कारण आपका ही नाम दलित साहित्य को दिया गया है। आप लोग आगे बढ़ने वाले हैं। भविष्य की मुट्ठी में जो बंद है, आप लोगों को उस मुट्ठी को खोलना होगा। परन्तु आज हमें ऐसा दिखाई देता है कि अनेक संस्थाएँ, अनेक राजनीतिक दल और व्यक्ति इतिहास की ओर भाग रहे हैं। इतिहास के नायकों से प्राण और प्रेरणा ले रहे हैं। इतिहास में बंदिस्त युद्ध और बैर को खोजकर बैर कर रहे हैं। भविष्य की ओर पीठ दिखाकर पीछे हटना जीवन्तता का लक्षण नहीं माना जाता है। पर उनका भविष्य पर विश्वास नहीं है। भविष्य पर अगर उन्हें विश्वास रखना हो तो उन्हें वर्गीय अहंकार से मुक्त होना पड़ेगा। उन्हें अपने वर्गीय अहंकार से मुक्त नहीं होना है, इस कारण वे इतिहास की ओर भाग रहे हैं। लेकिन आप लोग आगे जा रहे हैं, प्रकाश की खोज कर रहे हैं।

आप के पैरों तले वर्तमान है और आँखों के सामने भविष्यकाल है। आपका इतिहास, मनुष्य को मुक्ति देने वाला इतिहास है। आपका आदर्श डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जैसा ज्ञान पूजक इन्सान है और करुणा का सागर गौतम बुद्ध जैसा व्यक्तित्व।

इस देश में मनुष्य का भयंकर अपमान किया गया है। एक विशिष्ट व्यवस्था ने मनुष्य को चक्रव्यूह में फँसाकर मारा है। दलित साहित्य का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यह है कि वह मनुष्य को केन्द्र में रखता है।

दलित साहित्य मनुष्य की स्वतन्त्रता का गीत मुक्तकण्ठ से गाता है। यह साहित्य मनुष्य को महान मानता है और ईश्वर को मनुष्य से छोटा मानता है। मनुष्य अर्थात् महाकाव्य है। मनुष्य की भावना अर्थात् महान ऋतु है। हमारा

दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि पर विचार करते समय उसकी प्रेरणाओं पर विचार करना अपरिहार्य हो जाता है, क्योंकि इसके बिना दलित साहित्य तथा उसकी वैचारिक विशिष्टता को नहीं जाना जा सकता। दलित साहित्य मराठी साहित्य का एक अभिनव उन्मेष है और उसकी प्रेरणा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है।

&rkj kplnz [kk. Mdj

दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि पर विचार करते समय उसकी प्रेरणाओं पर विचार करना अपरिहार्य हो जाता है, क्योंकि इसके बिना दलित साहित्य तथा उसकी वैचारिक विशिष्टता को नहीं जाना जा सकता। दलित साहित्य मराठी साहित्य का एक अभिनव उन्मेष है और उसकी प्रेरणा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है।

मराठी में दलित साहित्य के आविर्भाव के कारणों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना आवश्यक है। साथ ही मराठी साहित्य के संदर्भ में इसकी विशेषताओं पर भी विचार करना चाहिए। निषेध, नकार और विद्रोह दलित साहित्य की प्रमुख विशेषताएं मानी जाती हैं। मुझे लगता है कि ये दलित साहित्य की प्रमुख विशेषताएं नहीं हैं। कथ्य, शिल्प और विषय के संदर्भ में इस प्रकार की भावनाएं इससे पूर्व भी व्यक्त हुई हैं। चक्रधर तथा अन्य महानुभाव संत, तुकाराम और चोखा भेला जैसे ब्राह्मणेतर संत इसी प्रकार के विद्रोही थे, किंतु इनका विद्रोह दलित साहित्य के विद्रोह से बहुत भिन्न है। मराठी के समाजवादी-साम्यवादी लेखकों का साहित्य भी इसी श्रेणी में आता है। समाजिक आशय के संदर्भ में तुकाराम के ही समान केशवसुत – जिन्हें आज के कुछ दलित आदिविद्रोही मानते हैं – का समावेश भी इन विद्रोहियों में किया जा सकता है। वस्तुतः ज्योतिबाफुले जैसा युगप्रवर्तक लेखक इस प्रकार के सर्वस्पर्शी विद्रोह का आदिरूप हो सकता है, किन्तु दलित साहित्य का विद्रोह इन सबसे भिन्न है।

इसके कारणों का विश्लेषण करते समय आंबेडकर के द्वारा प्रतिपादित क्रांति के ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं पर विचार करना होगा, क्योंकि आंबेडकर-दर्शन दलित साहित्य का प्रेरणा-स्रोत है।

बाबासाहेब आंबेडकर ने दलितों की मुक्ति-हेतु जो प्रचंड लड़ाइयां लड़ी थीं, उन्होंने नये मनुष्य की उस मानसिकता का निर्माण किया जो किसी भी रूप में मराठी साहित्य की संवेदना में व्यक्त नहीं हो रही थी। आंबेडकर द्वारा नवनिर्माण के लिए किए गए संघर्ष तथा नृवंशशास्त्र, राजनीति, अर्थनीति पर उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ बाबासाहेब के जीवन एवं साहित्यविषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं।

दलित-साहित्य महाराष्ट्र के आंबेडकरवादी दलितों की नवनिर्मितिक्रम निष्ठाओं का साहित्य है। यह उस मनुष्य के नये अस्तित्व का साहित्य है, जिसे अस्पृश्य मानकर किसी भी प्रकार के मानवीय अधिकार और संस्कार से वंचित रखा गया है। यह मनुष्य आज स्वाभिमान से विश्व के सामने अपने अस्तित्व को व्यक्त कर रहा है। वह इतना विज्ञाननिष्ठ तथा युगनिर्माता नहीं बन सकता था यदि बाबासाहेब ने उसका सांस्कृतिक-ऐतिहासिक विश्लेषण न किया होता।

बहुजन समाज के लिए सभी मानवीय अधिकारों एवं मूल्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से आंबेडकर जी ने एक नया दर्शन प्रदान किया। यह नया दर्शन उनके द्वारा लिखित (The Buddha and His Dhamma) में विकसित हुआ है। बुद्ध और उसके धम्म (धर्म नहीं) का बाबासाहेब आंबेडकर कृत विश्लेषण उनके विद्रोह का प्रमाण है।

दलित-साहित्य की कल्पना आज अधिक विकसित हुई है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति प्रथमतः सन् 1928 में हो चुकी थी किन्तु उसका स्वरूप आज के जैसा नहीं था। उसमें एक सरल अर्थ निहित था-दलितों द्वारा लिखा हुआ साहित्य, यानी दलित साहित्य। आज भी कुछ परंपरावादी मराठी साहित्यकार दलित साहित्य पर यही अर्थ चिपका देते हैं।

लेकिन सन् 1956 में बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा किये गए धर्मचक्र परिवर्तन के बाद उसका मूलभूत स्वरूप परिवर्तित हुआ है। 'दलित मनुष्य के जीवन का दलित लेखकों के द्वारा किये गये चित्रण' और 'दलित-जीवन की स्थितियों का कल्पना के आधार पर दलितेतरों द्वारा किये गये चित्रण' को दलित-साहित्य की सही कल्पना पर अन्याय है।

दलित-साहित्य और दलित जीवन का चित्रण करते समय उसमें आते हुए नये युगप्रवर्तक परिवर्तन और उस समाज के सांस्कृतिक अभिसरण की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। अतएव किसी एक लेखक की किसी कहानी या कविता को दलित कहानी या कविता के अंतर्गत मान लेने की अपेक्षा उस लेखक के साहित्य विषयक समग्र दृष्टिकोण को समझना जरूरी है। ऐसा न करने का अर्थ होगा-दलित साहित्य को अस्वीकार करना।

दलित साहित्य की निष्ठाएं केवल अछूत, दलित, आदिवासी, दुःख-पीड़ित समाज तक ही सीमित नहीं, बल्कि वे संपूर्ण मानव-समाज के मूल्य हैं। अछूत, दुःखी समाज इस साहित्य का प्राथमिक और महत्वपूर्ण क्षेत्र है। क्योंकि दलित को आज तक कोई भी मानवीय अधिकार प्राप्त नहीं हुआ। इसके लिए समाज के स्तर पर आ जाने के बाद दलित-साहित्य का उत्तरदायित्व होगा - समस्त मानव-कल्याण की प्राप्ति, किंतु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वह चातुर्ण्य व्यवस्था, परंपरागत ब्राह्मणशाही तथा रूढ़िवादिता के विरुद्ध संघर्ष करता ही रहेगा।

दलित-साहित्य अंधश्रद्धा, शब्दप्रामाण्य, ग्रन्थप्रामाण्य, आत्मा, ईश्वर और उस पर आधारित समस्त नैतिकता एवं धर्मसत्ता को अस्वीकार करता है। स्पष्ट है कि यह अस्वीकार हिंदू धर्म तक सीमित नहीं है। परिवर्तनशीलता को अस्वीकार करने वाले सभी धर्मों का निषेध दलित-साहित्य करता है। शब्द प्रामाण्य, व्यक्तिपूजा एवं अंधश्रद्धा (चाहे वह बुद्ध या आंबेडकर के संदर्भ में ही हो) की अस्वीकृति की पृष्ठभूमि में मार्क्सवादी, समाजवादी, गांधीवादी सभी विचारकों को अपना पुनर्परीक्षण करना होगा। प्रकाश जाधव, नामदेव ढसाल, दया पवार एवं यशवंत मनोहर जैसे कवियों की कविताओं को दलित समाज एवं दलित समीक्षकों में प्राप्त प्रतिष्ठा से मेरे इस कथन की सत्यता सिद्ध होती है। उल्लेखनीय है कि आज आंबेडकरवादी लेखक, समीक्षक और विचारक किसी भी अन्य लेखक, समीक्षक और विचारक की अपेक्षा अधिक विवेकनिष्ठ है।

मैंने दलित-साहित्य को 'आंबेडकरवादी जीवन-प्रेरणाओं का साहित्य' कहा है। कुछ लोगों को इसमें पूर्वाग्रह दिखाई दे सकता है, लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है। अपने ग्रन्थ 'आंबेडकर तत्त्वज्ञान: प्रचीती आणि आविष्कार' में आंबेडकरवाद को परिभाषित करते हुए मैंने कहा है - "एक व्यक्ति: एक मूल्य-को मानकर स्वातंत्र्य, समता और भ्रातृत्व, अर्थात् सामाजिक नैतिकता को स्वीकार करते हुए व्यक्ति का सर्वांगपूर्ण कल्याण साधने का संसदीय जननंत्रात्मक जीवनमार्ग आंबेडकरवाद है।" इसमें व्यक्ति को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होते हुए भी यह स्वीकार किया गया है कि सामाजिक नैतिकता (Social Humanism) मनुष्य का संयोजन करती है और मनुष्य सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति का कल्याण और सामाजिक कल्याण परस्परालम्बी वाले हैं। संसदीय जनतंत्र निहित होने के कारण मैंने आंबेडकरवाद को जीवनमार्ग कहा है। अभिप्राय यह है कि संसदीय जनतंत्र परिवर्तनशील और गतिमान प्रणाली है। परिवर्तनशील और गतिमान प्रणाली ही विज्ञाननिष्ठ होती है और काल सापेक्ष परिस्थिति के अनुकूल ढल सकती है। और अनुकूल परिस्थिति का निर्माण भी कर सकती है। समयसापेक्ष अनुकूल परिस्थिति से अभिप्राय है - विचारक या बुद्धिजीवी के द्वारा प्रवर्तित सुनियोजित और योजनाबद्ध आंदोलन। यहां सभी प्रकार के पूर्वाग्रह त्याज्य होते हैं। दलित-साहित्य इस प्रकार की सुनियोजित योजनाबद्ध क्रांति की भावना जागृत करने वाला अस्त्र है।

आंबेडकरवाद में साम्यवाद पर भी गहराई से विचार किया गया है। बाबा साहब आंबेडकर के राजनीतिक, आर्थिक दर्शन पर विचार करते समय उनके ग्रन्थ (States and Minorities) की सहायता ली जाती है। उसमें राज्य

समाजवाद (State Socialism), भूमि और बढ़े उद्योग-समूह, बीमा, बैंक के राष्ट्रीयकरण पर विचार किया गया है। इसका अर्थ यह है कि साम्यवादियों के समान समाजवाद की आकांक्षा बाबासाहेब की भी है, लेकिन वह उसे संसदीय पद्धति के अनुसार तथा रक्तक्रांतिरहित चाहते हैं। दलित साहित्य को मार्क्सवादी मानने वालों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। इन संदर्भ में दलित-साहित्य को 'बूर्जवा' मानने वाले तथाकथित मार्क्सवादियों की संख्या भी कम नहीं है। दलित साहित्य गांधीवाद को अंधकार युग मानता है और ब्राह्मणशाही तो उसका सबसे पहला दुश्मन है। दलित-साहित्य जिस समाजवाद को स्वीकार करता है, वह आंबेडकर-प्रणीत धर्मनिरपेक्ष समाजवाद है और दलितों की आर्थिक-सामाजिक विषमता का नाश उस समाजवाद का प्रथम लक्ष्य है।

दलित-साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि का विवेचन करते समय उसके सृजनात्मक मूल्यों पर विचार करना भी महत्वपूर्ण है। दलित-साहित्य न केवल वैचारिक परंपराओं को अस्वीकार करता है, बल्कि आज तक की मराठी तथा समस्त भारतीय साहित्य की परंपराओं को भी अस्वीकार करता है। ज्योतिबाफुले के लेखों में यह अस्वीकार सविस्तार स्पष्ट हुआ है और महार, मांग आदि अतिशूद्रों तथा कुणबी, तेली, माली जैसे शूद्रों को गरिमा प्राप्त हुई है। फुले और आंबेडकर ने अनपे लेखों में जनसामान्य की भाषा का प्रचुरता से प्रयोग करके मराठी को नये संस्कार दिये हैं। दलित-साहित्य की भाषा दलित जीवन की भाषा है, जिसने मराठी साहित्य के वैभव में वृद्धि की है।

दलित-साहित्य के आंबेडकरवाद को स्वीकार करने का अर्थ है कि वह आंबेडकरवाद की क्रांतिकारिता को स्वीकारता है। मराठी तथा संपूर्ण भारतीय साहित्य (जो मूलतः संस्कृत भाषा और साहित्य से प्रभावित है) का वह निषेध करता है। आज भी रामायण, महाभारत भारतीय साहित्य के प्रेरणास्रोत हैं। मनुस्मृति और ऋग्वेद जैसे ग्रंथ आज भी परंपरावादी साहित्यकारों के मार्गदीप हैं। दलित-साहित्य स्वीकार करता है। कथ्य और जीवन दर्शन के विषमतावादी (केवल अनुनय करने वाले) होने के कारण ये ग्रंथ दलितों को अपने नहीं को ही ले तो हम देखते हैं कि 'मृच्छकटिकम्' में बौद्ध भिक्षुओं को गया है। ऐसे अनेकानेक उदाहरण धार्मिक ग्रंथों, वेदों और स्मृतियों में इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय इतिहास का यथार्थ दर्शन करने के लिए आंबेडकर में निष्ठा रखकर चलने वाले शोधार्थियों की आवश्यकता है। मार्क्सवादी इतिहास-मीमांसा भी भारतीय संदर्भ में अपूर्ण है।

दलित-साहित्य के भारतीय साहित्य परंपराओं को अस्वीकार करने का अर्थ है – ब्राह्मणशाही के द्वारा समृद्ध किए गए साहित्य का अस्वीकार। यह साहित्य केवल हिंदूधर्मिय ही नहीं था। ब्राह्मणशाही के कुछ दंभी और प्रच्छन्न पंडित बौद्ध और जैन धर्म में प्रवेश करके अपना षड्यंत्र सफल बना रहे थे। इसी कारण भारत का सच्चा सांस्कृतिक इतिहास फिर से लिखना होगा और दायित्व दलित साहित्यकारों पर है।

भारतीय साहित्य के मूलमंत्र 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' का पुनर्मूल्यांकन करने के बाद दलित-साहित्य इसको भी निषिद्ध मानता है। इसके स्थान पर वह 'सब पापस्स अकरणं कुसलस्य उपसंपदा सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानुशासनं' को स्वीकार करता है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' को नकारने के कारण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में खोजने होंगे। संस्कृत साहित्य – दूसरे शब्दों में ब्राह्मण धर्म – को जो सत्य लगता था वह ब्राह्मणेतरो के लिए सत्य नहीं था, ब्राह्मणशाही को प्रतीत होने वाला शिव इतरजनों को शिव नहीं लगता था और सही प्रकार ब्राह्मणशाही ने जो सुन्दरम् के रूप में स्वीकार किया, उसके कारण ब्राह्मणेतरो को दुःख भोगना पड़ा। सारांश यह कि 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की रचना एक वर्णविशेष के लिए की गई थी। अन्य वर्ण के लोगों तथा वर्णहीन अस्पृश्यों को इसी कारण 'दास' बनना पड़ा। इस 'सत्यं शिवं सुन्दरं' ने भारतीय शूद्र, अस्पृश्यों और शूद्रों को उनकी प्रचंड एवं विलोभनीय सांस्कृतिक महानता का अहसास कराया। यह बात कितने लोगों को मालूम है कि 'भारत' दासों के एक गोत्र का नाम था और इस 'भारत' का दुष्यंत-शकुन्तला के भारत से लेशमात्र संबंध नहीं है?

रचना—प्रक्रिया के संदर्भ में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का विश्लेषण मैंने एक दलित कवि डब्ल्यू. कपूर के काव्य—संग्रह की प्रस्तावना में किया है। ब्राह्मण—परंपरा के षड्यंत्र के परिणामस्वरूप ही वस्तुतः आज तक के लेखकों को प्रतीत होने वाला 'सत्यं' दलितों के लिए असत्य, 'शिव' दलितों के लिए अस्पृश्य और 'सुन्दर' दलितों के लिए गुलामी रहा। दलित—साहित्य ने इस ब्राह्मणी साहित्य के अंतरंग को उघाड़कर रखा है। अतएव दलित रचनाओं की विशिष्टता स्पष्ट लक्षित होती है।

मराठी में सह उन्मेष सभी दृष्टियों से नया है। दलित साहित्य से पूर्व मराठी में विद्रोही साहित्य भी लिखा गया और मार्क्सवादी लेखन भी हुआ, किंतु दलित—साहित्य का विद्रोही साहित्य एहसास के स्तर पर था और मार्क्सवादी लेखक—परंपरा से संबद्ध रहा। इन मार्क्सवादी और समाजवादी प्रगतिशील लेखकों के पीछे छोड़ने वाले अनेक लेखकों की अवहेलना के प्रमाण नामदेव ढसाल के आजकल के लेखों से मिलता है। अनेक युवा दलित लेखक साम्यवादी या तथाकथित समाजवादी लेखकों के साथ रहकर कैसे अपनी अस्मिता खो रहे हैं, यह देखने लायक है। दलित—साहित्य के संदर्भ में 'फुले—मार्क्स—आंबेडकर' या 'आंबेडकर—मार्क्स—लोहिया' जैसे समीकरण बेबुनियाद हैं। मराठी में एक भी असली मार्क्सवादी कृति की रचना नहीं हो सकी — इसका दुःख मुझे मार्क्सवादी की अपेक्षा अधिक है। कितनी बड़ी ट्रेजडी है कि नारायण सुर्वे जैसे एक युग—प्रवर्तक कवि को भी 'मीही दलित कवि आहे' (मैं भी दलित कवि हूँ) कहना पड़ा।

जब हम यह मानते हैं कि दलित—साहित्य में दलित मनुष्य के कल्याण का विचार होता है तो यह कैसे हो सकता है कि उसमें आर्थिक शोषण का विचार अनुस्यूत न हो? आर्थिक शोषण आंबेडकरवाद का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। तो क्या यह मान लेना चाहिए कि दलित—साहित्य किसी भी बात के प्रति पूर्वाग्रह रखकर उसका विश्लेषण नहीं करता। दलित—साहित्य आर्थिक शोषण के विरुद्ध एक बहुत बड़ी सशक्त क्रांति है किंतु मार्क्सवादी या साम्यवादी जिस प्रकार इस क्रांति के मार्ग को निश्चित लोकबद्ध मानते हैं, दलित—साहित्य वैसा नहीं मानता। आंबेडकरवाद को भी इस शोषण के विरुद्ध आवाज उठानी है। किंतु उसके लिए वह संसदीय जनतंत्र के हनन और एकाधिकारशाही को स्वीकार नहीं कर सकता। 'राज्य' की संकल्पना के प्रति भिन्न विचारधार रखने के कारण मार्क्सवादी साहित्य को दलित साहित्य नहीं माना जा सकता। आंबेडकरवाद एक विशिष्ट सीमा तक मानवीय स्वतंत्रता को नियंत्रित करने की बात स्वीकार करता है, लेकिन वर्गसंघर्ष के नाम पर स्वातंत्र्य, समता, बंधुत्व जैसे मूल्यों का हनन को वह स्वीकार नहीं करता।

आज दलित—साहित्य अनेक दृष्टियों से समृद्ध हो रहा है। उसके विविध रूप अब प्रकट होने लगे हैं। पहले संक्रामणावस्था के कारण अनेक कृतियों में कुछ दोष रह गए हैं, किंतु आज की दलित कलाकृति शुद्ध आंबेडकरवाद के रूप में साकार हो रही है। आंबेडकरवाद स्वीकार न करने वाली कुछ अस्पृश्य, आदिवासी तथा घुमन्तू जातियों में भी आज इस प्रकार की साहित्य—रचना होने लगी है। अभी ये लोग अधिकांशतः आत्मानुभवों की प्रेरणा से साहित्य—सृजन कर रहे हैं। जब उन्हें अपनी सामाजिक अस्मिता का असली स्वरूप ज्ञात होगा तब दलित—साहित्य का रूप अधिक निखकरकर आएगा।

साहित्य—सृजन के समय लेखक की मानसिकता पर समाजांतर्गत तथा समाजबाह्य बातें अपना प्रभाव डालती रहती हैं। वह सदा जीवन—सापेक्ष रहता है। अपने को अलौकिकवादी या आध्यात्मिक कहने वालों की अनुभूति भी उनके संस्कारों में से विकसित होती है। तथाकथित कलावादी और जीवनवादी — दोनों प्रकार की कृतियां जीवन—सापेक्ष होती हैं। और उनका स्वरूप भी सामाजिक होता है। लेखक मनुष्य—बाह्य अनुभूतियों को व्यक्त करने वाला प्राणी

नहीं है। कम-से-कम आज वह इस प्रकार जी नहीं सकता। इसी कारण केवल कलावादी या केवल जीवनवादी साहित्य जैसी संकल्पनाओं का कोई अर्थ ही नहीं है। आज कलाकृति का महत्वपूर्ण उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं बल्कि प्रबोधन उद्बोधन है। उच्च कोटि की शुद्ध कलावादी अथवा जीवनवादी कलाकृति को आज सामाजिक संदर्भ में ही अर्थ प्राप्त होता है। यह अर्थ व्यक्ति और समाज दोनों के महत्तम सुख-कल्याण के अनुकूल हो – यही दलित साहित्य का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है।

आज जबकि विश्व में मार्क्सवाद के स्तुतिस्तोत्रों का गायन हो रहा है, चिन्तक साम्यवाद की असफलता को देखते हुए एक नया विकल्प ढूँढ रहे हैं। 'तीसरा जगत्' नाम की एक नयी संकल्पना उदित हो रही है। उसमें दलित, अस्पृश्य, आदिवासी, मजदूर, सर्वहारा – इन सब के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य अंतर्भूत है। भार में इस तीसरे जगत की थोड़ी – पहचान हिंदी भाषी लेखकों में दिखाई देती है। मराठी में इस तीसरे जगत का प्रतिनिधित्व नकली लोगों के हाथों में न जाने दिया जाए – यह युग की आवश्यकता है। हिन्दी में प्रेमचन्द, गजानन माधव मुक्तिबोध, धूमिल की परंपरा आज भी पुष्ट नहीं हो पाई, इसके कारण ब्राह्मणशाही की सांस्कृतिक परंपरा में निहित है। मराठी में दलित-साहित्य के रूप में जो नया दन्मेष प्रकट हुआ है, अन्य भाषाओं के साहित्यकारों को उसका तटस्थ विवेचन-विश्लेषण करना चाहिए। दलित-साहित्य के आंबेडकरवादी प्राणतत्त्व को स्वीकार किए बिना भारतीय साहित्य कभी सच्चे अर्थ में सार्वभौमिक नहीं हो सकता। दलित साहित्य का शुद्ध एवं क्रांतिकारी रूप वह है जिसकी सुदृढ़ नींव आंबेडकरवाद पर आधारित है।

Hkkj rh; nfyR l kfgR;

& Mkw i # "kkjke l R; i æh

किसी भी भाषा का सहित्य समाज—विशेष का दर्पण ही नहीं होता, अपितु नये समाज की संरचना के निर्माण की संकल्पना भी करता है। वह समाज की कमियों—त्रुटियों को भी दर्शाता है और उनके निराकरण समाधान के उपाय भी सुझाता है। इस दृष्टि से सहित्य एवं रचनाकार केवल सूचक या सांकेतिक नहीं है अपितु सजग सचेतक भी है।

भारतीय दलित साहित्य की सर्जना एवं विचार माधुर्य—भूमिका को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है उसमें क्रांति एवं शांति का समन्वयकारी स्वरूप एवं उनकी रचनात्मक से हमारा आशय, उस सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति से है जो शिक्षित, संगठित एवं संघर्षरत व्यक्ति—स्तर' और 'समाज—स्तर' पर 'अपना दीपक आप बने' की आत्मिक सचेतना को अपनाएं। वह लिंग—जातिवर्णभेद को अस्वीकार कर अस्पृश्यता, तिरस्कार, शोषण, उत्पीड़न एवं यातना अलगाववाद के हिमायती ब्राह्मणवाद की उसकी पक्षधर पारंपारिक समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश, विद्रोह की भावना से निषेध के आधार पर नये जन—तांत्रिक समतावादी समाज की संरचना के निमित्त स्वतंत्रता, समानता, न्याय एवं बन्धुता के संवैधानिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सृजनात्मक क्रान्ति चेतना के पथ पर सक्रियता से अग्रसर हो। वस्तुतः दलित साहित्य संवेदना से विचार की ओर' की सृजनात्मक क्रान्ति—चेतना का ऐसा साहित्य है जो मानव के लिए मानव की दासता पराधीनता से मुक्ति के द्वार पर दस्तक देकर 'मानव मात्र की मानव के रूप में मानव समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा' के लिए सक्रिय संकल्पना है और यही संचेतना एवं संग्रथन की भीम ज्योति है तथा माधुर्य—दृष्टि का मंजुल—पुष्पगुच्छ भी है।

सामाजिक परिवर्तन एवं नये जनतांत्रिक समाजवादी समाज की संरचना अपने आप में एक जटिल समस्या है। आंख झपकने में सामाजिक बदलाव आ जायेगा एवं 'मात्र मनुष्य' और 'मनुष्य मात्र' की प्रतिष्ठा का समाज बन जाएगा, यह सोचना स्वयं को भ्रम में रखना होगा। यह सत्य है कि तन की खुली हुई आंखों से केवल वर्तमान परिस्थितियों को ही देखा जा जा सकता है, उसकी दशा एवं दिशा में अनुकूल और सुयोग्य परिवर्तन लाने के लिए मन को खोलना आवश्यक है। इस तीसरी आंख को केवल शिक्षा—विवेक—प्रा की संचेतना द्वारा ही खोला जा सकता है जिसके द्वारा संस्कारित होने की ललक ही नहीं अपितु संस्कारित करने की भावना का भी उदय होता है। इसे मन की आंख को खोलने के निमित्त ही युगदृष्टा क्रांति चेता बाबा साहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर ने शिक्षित बनने, संगठित रहने एवं संघर्ष करने का मूलमंत्र महामंत्र अपनी मानवीय अस्मिता को स्थापित करने के लिए शोषित पीड़ित उपेक्षित दलित समाज को दिया था।

डॉ. भीमराव आंबेडकर ने कहा था कि... जब तक हमारे बीच हिन्दू सिन्धी, या मद्रासी इत्यादि के मतभेद रहेंगे, हम कभी अपनी राष्ट्रीयता की उन्नति नहीं कर सकते।' इसीलिए वे 'ब्राह्मणवाद' के विरोधी थे और ब्राह्मणवाद से उनका आशय उन्हीं के शब्दों में 'ब्राह्मणवाद से मेरा अर्थ एक समुदाय के रूप में ब्राह्मणों की शक्ति, हितों तथा विशेषाधिकारों से नहीं है। यह मापना नहीं है कि जिसको लेकर मैं इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। ब्राह्मणवाद से मेरा अभिप्राय स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व—भ्रातृत्व—भाव की भावना के निषेध से है। इस अर्थ में ब्राह्मणवाद सभी वर्गों में व्याप्त है और मात्र ब्राह्मणों तक ही वह सीमित नहीं है यद्यपि यही लोग उसके जन्मदाता रहे हैं। ब्राह्मणवाद के प्रभाव सामाजिक अधिकारों जैसे अंतर्जातीय खान—पान और विवाह तक सीमित नहीं थे बल्कि उसने लोगों को नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा है। वस्तुतः अस्पृश्यता—वर्जनाओं इसके साथ खाओं मत, इसको स्पर्श मत करो एवं इसके साथ विवाह मत करो' की प्रस्तुत सम्पन्न व्यक्ति एवं शक्ति के ब्राह्मणवाद से मुक्ति के जनतांत्रिक

समाजवादी समाज की संरचना का स्वप्न ही समाज वैज्ञानिक डॉ. भीमराव आंबेडकर ने संजोया था जिसकी साकार परिणति दलित साहित्य को सामाजिक शक्ति की सृजनात्मक क्रांति-चेतना से ही संभव है।

बाबासाहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर की समाज व्यवस्था संबंधी कल्पना में समाज के लोगों का मानसिक परिवर्तन करके उनमें समानता, स्वतंत्रता एक बंधुता की भावना भर देना अभिप्रेत था और इसलिए समाज परिवर्तन के लिए उन्होंने पुराण-पंची शास्त्रों एवं समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह, निषेध के सामाजिक न्याय की बात को लेकर जहां कहीं भी चर्चा होती है तो उसका श्रेय डॉ. भीमराव आंबेडकर को ही जानना चाहिए किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि केवल समानता एवं सामाजिक न्याय की रट लगाकर ही समाज को समानता एवं बंधुता की भावना नहीं लाई जा सकती। यदि ऐसा हो भी गया तो वह औपचारिकता होगी – कागजी या दस्तावेजी ही होगी, व्यवहारिक धरातल पर स्थायी नहीं होगी, इससे वे भली भांति परिचित थे और इसलिए उन्होंने अपनी जीवन-दृष्टि को इस प्रकार व्यक्त किया है – मेरा सामाजिक तत्वज्ञान तीन शब्दों में ही समाविष्ट किया जा सकता है। वे शब्द हैं – स्वतंत्रता, समता व बंधुत्व मेरा यह तत्वज्ञान ही अपना है, इसे मैंने फ्रांस की राजक्रांति से अपनाया है – यह न समझा जाये, क्योंकि मेरे इस तत्वज्ञान का मूल धर्म में निहित है न कि राजनीति में। मेरे गुरु बुद्ध हैं। उनकी शिक्षा से ही मैंने इस तत्वज्ञान को पाया है। असीमित स्वतंत्रता से समता का नाश होता है और उसमें नंसर्गिक समानता, स्वतंत्रता के लिए जगह नहीं रहती। स्वतंत्रता और समानता मेरे तत्वज्ञान का अतिक्रमण न करें इसीलिए केवल संरक्षण के लिहाज से उसमें प्रतिबंध को स्थान है। तथापि, स्वतंत्रता और समता के संबंध में होने वाले अतिक्रमण के लिए मैं हामी नहीं भर सकता। मेरे तत्वज्ञान में बंधुत्व को ऊँचा स्थान है। स्वतंत्रता और समता के विरुद्ध संरक्षण केवल बंधुत्व भावना के कारण ही संभव है। इसका ही दूसरा नाम बंधुत्व अथवा मानता है और यही धर्म का दूसरा नाम है।

डॉ. भीमराव आंबेडकर के अनुसार जिन नियमों से समाज का निर्माण होता है, वही युग-धर्म है – सदधर्म है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भी ऐसा ही मानते थे किन्तु एक प्रश्न बनता था कि क्या भारतीय हिन्दू समाज जिस आचार-विचार को धर्म कह कर उसका पालन करता था वह सदधर्म ही था या कुछ और? क्योंकि आंबेडकर के ही शब्दों में – एक वर्ग विद्या अर्जित करे, दूसरा वर्ग अस्त्र चलाये, तीसरा वर्ग व्यापार ही करे चौथा वर्ग केवल दूसरों की सेवा ही करे – ऐसा धर्म मुझे अमान्य है। व्यक्ति के विकास में तीन बातों का होना आवश्यक है और वे हैं – सहानुभूति, समता और स्वतंत्रता। क्या इनमें से एक भी पद-दलितों को प्राप्त थी? इसलिए उन्होंने आदमी-आदमी में भेद करने वाला हिन्दू धर्म को त्यागकर मानव-मानव में बंधुत्व एवं समानता का संदेश देने वाले भारतीय जमीन में पैछा होकर भी विश्व के विकसित-उन्नत राष्ट्रों की रीढ़ बने- हृदय बन, बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था जिसमें समता ही धर्म-बंधुत्व का आधार है। इसलिए उन्होंने कहा – 'मनुष्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह सम्मानपूर्वक जीवनयापन करे। हम इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए कटिबद्ध हैं, हम मानव-सम्मान के लिए संघर्ष कर रहे हैं जिसका हिन्दुओं ने हमारे लिए अभी तक निषेध कर रखा था। हम अपने जीवन को उतना पूर्ण और सुन्दर बनाना चाहते हैं जितना संभव हो सके और इसीलिए धर्म मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य धर्म के लिए।' यह उद्घोष करने वाले बाबासाहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर ने बंधुत्व अथवा मानवता अथवा मनुष्य धर्म पर संविधान समिति की बैठक के समापन भाषण में बहुत ही प्रभावशाली भाषा-शैली से स्पष्ट कहा था कि 'बंधुत्व की भावना को हमने समझा नहीं है। हम सारे हिन्दुस्तानी भाई-भाई हैं, एक ही परिवार के सदस्य हैं। ऐसी भावना से सामाजिक जीवन में एकता और अखण्डता पैदा होती है। भारत में कई जातियां हैं- इससे राष्ट्र विरोध भी पनपता है, इसकी वजह से सामाजिक जीवन में दरार पैदा होती है। यदि हमें सही मायने में राष्ट्र के रूप में उभरना है तो इन अवरोधों को समाप्त करना होगा। कई वर्षों से राजसत्ता मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में ही रही

llkjrh; nfyf l kfgR; %foopuk

है इनके प्रभुत्व से बहुसंख्यक लोगों को अपनी प्रगति और उत्थान के अवसर प्राप्त नहीं हुए थे। इससे उनके जीवन का सत्य ही नष्टप्राय हो गया था। दलितों में इस भावना से कहीं वर्गसंघर्ष पैदा न हो जाए इसकी मुझे सावधानी बरतनी होगी... ऐसा न हुआ तो घर में कलह शुरू हो जायेगी और जिसमें घर-फूट पड़ जाए वह घर अधिक समय तक टिक नहीं सकता।

इस प्रकार भारत के दलित समाज की आकांक्षा को सफल करने के निमित्त उन्होंने इन मुट्ठी-भर सवर्ण सर्जनाओं की चौखट में सिर खपाने वाले लोगों से सहयोग करने की अपील की थी। यही उनके हित में भी था और उसी में राष्ट्र का कल्याण भी निहित था जिसमें संविधान की स्वतंत्रता और लोकतंत्र की सुदृढ़ता भी निहित है। सचेत एव सजग सृजनात्मक क्रांति चेतना के पक्षधर डॉ. भीमराव आंबेडकर का मानना था कि सबल लोग दुर्बलों का शोषण नहीं करेंगे? इस सब भारतीय ही एक भारतीय समाज और एक भारत राष्ट्र के अभिन्न अंग हैं, इस दृष्टि से समाज में यदि एकता का भाव न हो तो देश की स्वतंत्रता को खतरा हो सकता है।

दुनिया में पूँजीवादी समाज रचना में यही देखने को मिलता है कि यहां स्वतंत्रता के आखिरी छोर पाने की होड़ में कुछ गिने-चुने लोगों ने ही समता को माटियामेट कर दिया है। समाजवाद के रूप में स्वतंत्रता के विरुद्ध एक प्रक्रिया प्रारंभ हो गई है। रूस आदि साम्यवादी देशों में समता से लिए स्वतंत्रता को संकुचित किया गया है। हमारे देश में भी वर्णाश्रित साम्प्रदायिकता से अनुप्रेरित जातिवाद एवं समता को संकुचित किया गया जिसका बड़बोलापन एवं बोलबाला स्वतंत्रता एवं लोकतंत्र शासन प्रणाली के अनेक दशक बीत जाने के बाद भी बना हुआ है। इसलिए डॉ. भीमराव आंबेडकर ने स्वतंत्रता एवं समानता की नींव का पत्थर बंधुत्व को माना है और यह बंधुता की भावना जिस समाज में जितनी अधिक होगी, वह समाज और वह राष्ट्र उतना ही सुदृढ़ एवं सफल होगा समृद्ध होगा और शांतिगामी होगा। बाबासाहेब आंबेडकर के शिक्षित, संगठित एवं संघर्षरत समाज के सपने के भारत की प्रेरणा में महात्मा बुद्ध का संघदर्शन ही सक्रिय जान पड़ता है। आज से हजारों वर्षों पहले भारत-भूमि के लाल विश्ववंद्य बने गौतम बुद्ध ने अनेक जातियों के लोगों को एकत्र कर उन्हें दीक्षित करते हुए कहा था – 'हे भिक्षुओं आप लोग अलग-अलग जगह और जातियों से आये हो। इस तरह अपने-अपने प्रदेशों में नदियां बहती हैं तब वे अलग-अलग रहती हैं पर जब वे सागर में गिरती हैं तो अलग-अलग नहीं रह जाती। संघ भी ऐसे ही सागर के समान है जिसमें सभी समान हैं।'

अतः समाज में स्पृश्यों – दलित समाज को सामाजिक न्याय के आधार पर स्वतंत्रता एवं समानता के हक-अधिकार दिलाने और भारत देश को गणतंत्र संघ राज्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने आजीवन संघर्ष किया है। यही संघर्ष दलित साहित्य एवं उसकी रचनाकारों के द्वारा सृजनात्मक क्रांति-चेतना के रचना-कर्म द्वारा आज की सम-सामयिक स्थिति में भी गतिमान बना हुआ है जिसकी सक्रियता एवं निरंतरता एवं उंगली उठाने वालों को आज नहीं तो कल अवश्य पुनर्विचार कर हथेली पर उतरे सूरज की तरह साक्षात्कार करके स्वीकार करना ही होगा।

भारतीय दलित साहित्य की सामाजिक शक्ति की सृजनात्मक क्रांति चेतना का उभार स्यातन्योत्तर समय में हुआ परन्तु अंकुरण एवं पल्लवन में महाराष्ट्र की सामाजिक दशा का विशेष योगदान रहा। मध्यप्रदेश में जन्में किंतु महाराष्ट्र में पले-पड़े डॉ. भीमराव आंबेडकर की दलित चिंतनधारा में महात्मा बुद्ध, महात्मा कबीर एवं महात्मा ज्योतिराव फुले की सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक न्याय विचारधारा की प्रबलतम प्रेरणा-स्रोत के रूप में देखी जा सकती है किंतु मो.म. कुलकर्णी ने लिखा कि दलित साहित्यकार अपनी परंपरा का ब्यौरा देते समय बुद्ध-कबीर-फुले का उल्लेख करता है लेकिन दलित साहित्य के वास्तविक प्रेरणा स्रोत डॉ. आंबेडकर ही है। शिक्षा

में प्रबुद्ध बन रहे दलित युवकों में अपनी स्थिति और सामाजिक व्यवस्था को लेकर जो असंतोष एक अरसे से पनप रहा था उसे आंबेडकर के मंत्र—‘एज्युकेट, आर्गनाइज, एजीटेट’— से एक दिशा मिल गई। इस असंतोष की तीखी और सीधी अभिव्यक्ति साहित्य के जरिए सर्वाधिक हुई। दया पंवार, सोन कांबले, केशव मेश्राम, लक्ष्मन, माधव माने, कोंडविलकर आदि रचनाकारों ने जो विचारोत्तेजक साहित्य लिखा है, वह उनके प्रत्यक्ष और निजी अनुभव संयोग से बहुत तीक्ष्ण बन गया है। मराठी भाषी साहित्यकार सदा कन्हड़े के विचार में इस तरह की रचनाओं की प्रेरणा नीग्रो साहित्य है। नीग्रो लोग रंगभेद के अभिशाप झेलते रह जबकि भारतीय अस्पृश्य भी वर्णभेद के शिकार रहे। अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे नीग्रो लेखकों ने दलित लेखकों को बहुत बल प्रदान किया। इस प्रकार ‘दलित साहित्य’ की अवधारणा का प्रादुर्भाव मराठी भाषी साहित्य में सर्वप्रथम हुआ।

भारतीय समाज की दशा और दिशा में स्वतंत्रता के पश्चात् परिवर्तन हुए और संघर्ष के विविधि आयाम भी उद्घाटित हुए जिसके परिणामस्वरूप दलित साहित्य लेखन एवं प्रकाश की परंपरा शुरू हुई। महाराष्ट्र के ही गोपाल बाबा बलंगकर पहले दलित पत्रकार थे जिन्होंने शोषित—पीड़ित—दलित समाज की यातना—वेदना को साहित्य में स्थान दिया। मराठी दलित साहित्य के विकास में कुछ पत्र—पत्रिकाओं की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण रही, उनमें से औरंगाबाद से प्रकाशित ‘अस्मितादर्श’ प्रारंभ से ही दलित साहित्य आंदोलन को समर्पित रहा। इस मराठी जमीन में जन्में एवं पनपे दलित—साहित्य आंदोलनों के चिंतकों — विद्वानों एवं प्रवक्ताओं के अनुसार दलित साहित्य की कल्पना साठोत्तरी युग में अधिक विकसित हुई थी, विशेषकर महाराष्ट्र में जब स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व देखे गए सपनों के स्थान पर उत्पीड़न अधिक महसूस किया गया। यद्यपि अत्याचार—दलित यातना का वातावरण देशव्यापी था परंतु महाराष्ट्र के बाहर नामदेच ढसाल या राजा ढाले जैसे दलित समाज से ही लेखक और कवि नहीं थे यदि थे भी तो गुमनामी के अंधेरे में डूबे थे या फिर संवेदनशील होने के उपरांत भी गूंगे एवं बहरे बने हुए थे। सन् 1956 में बाबासाहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर द्वारा किए गए ‘धम्म चक्र’ परिवर्तन के पश्चात् दलित साहित्य का मूलभूत स्वरूप ही परिवर्तित हो गया था। दलित समाज के मनुष्य जीवन का दलित साहित्यकारों द्वारा किए गए चित्रण और दलित जीवन की स्थितियों की कल्पना के आधार पर दलितेत्तरों द्वारा किए गए चित्रण को दलित साहित्य कहना दलित साहित्य की संकल्पना पर अन्याय करना है और प्रत्यक्ष रूप से साहित्यिक स्तर पर भी शोषण करता आ रहा है। यहीं पर यह बात भी विचारणीय है कि दलित साहित्य एवं उसके रचनाकार की निष्ठा केवल अछूत दलित, अनुसूचित जाति—जनजाति, आदिवासी एवं पिछड़े वर्ग की सूची में शासकीय प्रावधान के अनुसार सम्मिलित जातियों तक ही सीमित नहीं है अपितु सम्पूर्ण शोषित—पीड़ित दलित समाज अवर्ण समाज के ‘मनुष्य मात्र’ की यातना शोषण—उत्पीड़न एवं प्रतिष्ठा की भावना से भी संबंधित है।

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने ‘ज्योत्स्ना’ अक्टूबर, 1988, में लिखा है कि ‘यद्यपि दलित साहित्य आर्थिक शोषण का विरोधी है, धार्मिक व्यवस्था को अस्वीकार करता है फिर भी मार्क्सवादी दृष्टि से इसका सामंजस्य स्थापित नहीं हुआ। यह अजीब सा लगता है कि दलितों के आक्रोश को बुद्ध की करुणा से अधिक आश्वस्ती मिली है। दलित साहित्य का केन्द्रीय स्वर ‘विद्रोह’ है जो रूढ़ियों के प्रति तो है ही वर्तमान में व्यवस्था के प्रति भी कम नहीं है। यह विद्रोह अहिंसक किस्म का नहीं है। जे.बी. पंचार ने एक कविता में लिखा है— ‘खूंटी पर टंगे हथियारों को दिशा में हाथ उठ रहे हैं। जब मैं ही समन्दर हो गया हूँ। उठान और तूफान बन रहा हूँ। तुम लोगों की कब्रें बांधने शहर निकला हूँ। ‘दलित साहित्य केवल निषेध का साहित्य नहीं है, वह ध्वंश का साहित्य भी है। दया पंवार कृत ‘बलुतं’, लक्ष्मण माने कृत ‘उपरा’ आदि आत्मवृत बाबुराव बागुल कृत ‘जेन्हा की जात चोरली होती’, खरात कृत ‘सांगाबा’, आदि कहानियों और त्रयम्बक सपकाले, दामोदर मोरे, अर्जुन डांगले, नारायण सुर्वे, डॉ. रोहीदास बाघमारे की एक कविता,

सावली आदि की कविताएं इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। इन रचनाओं ने न केवल देश के दलित लेखकों अपितु प्रबुद्ध संवेदनशील और प्रतिबद्ध दलितेतर लेखकों को भी पर्याप्त प्रेरणा दी है। मराठी दलित साहित्य के रचनाकारों के विषय में डॉ. चन्द्रकांत बादीवडेकर की यह टिप्पणी अधिकतर दलित साहित्य एवं उसके दलित दलितेतर रचनाकारों पर भी सटीक प्रतीत होती है— प्राणों की बाजी लगाकर लड़ने वाले योद्धा के तेवन में वे लिखते हैं। ऐसी व्यवस्था वे चाहते हैं जो न्यायोचित विकास का अवसर दे सके जाति, वर्ण, अर्थ के नाम पर किसी प्रकार की विषमता न रहने दे। अस्तु दलित साहित्य क्रांति चेतना का साहित्य है।

दलित साहित्य : सीमाएं और संभावनाएं शीर्षक से 'आजकल अक्टूबर' 92 में प्रकाशित लेख में मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है कि – महाराष्ट्र के बाहर दलितों के जीवन की त्रासदियों पर लिखने का श्रेय प्रेमचन्द को दिया जाना चाहिए। सर्वप्रथम उन्होंने ही दलितों की पीड़ा को साहित्य में चित्रित किया। प्रेमचन्द पहले भारतीय हैं जो सवर्णों और अवर्णों के बीच रोटी-बेटी का संबंध स्थापित करते हैं। रोटी का संबंध 'कर्म भूमि' में स्थापित होता है और बेटी का संबंध 'गोदान' में। रंगभूमि और 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द के पात्र विषमता के खिलाफ लड़ते हैं। प्रेमचन्द के समय में ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र का उपन्यास पहले 1928 'बंधुवा की बेटी' नाम से कलकत्ता से तथा बाद में 1953 में 'मनुष्यानन्द' के नाम से मिर्जापुर से प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी साहित्य का पहला उपन्यास है जिसमें समाज की सबसे दलित और अछूत कहे जाने वाली जाति की नारी पात्र को नायिका का स्थान प्राप्त हुआ। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' द्वारा लिखित 'अलका' और 'निरूपमा' 'चतुरी चमार' 'बिल्लेसुर' 'बकरीहा' इसी कड़ी के अगले उपन्यास हैं। प्रेमचन्दोत्तर काल के प्रमुख उपन्यासकारों में आचार्य चतुर सेन हैं जिन्होंने अपने उपन्यास 'गोली' में सामन्ती काराओं में कैद मानवयी अधिकारों से सर्वथा वंचित दास-दासियों की पीड़ा को वाणी दी। उनका दूसरा उपन्यास 'उदमास्त' है। वह दलितों में अधिकार पाने के लिए हुई चेतना को दर्शाने वाला उपन्यास है। 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास के प्रथम भाग में अज्ञेय दक्षिण भारत में व्याप्त छुआछूत तथा वर्गभेद को मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं।'

इस संदर्भ में यह बात भी विचारणीय है कि दलित साहित्य में स्वयं दलित समाज के अंतर्विरोध को अनदेखा नहीं किया गया है। 'बली' में विभावरी शिरूरकर ने दिखाया है कि दलितों की बेहतरी के लिए सचेष्ट और संघर्षरत 'आबा' को उसकी ही जमात के लोग खत्म कर देते हैं। यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' कृत 'हजार घड़ों का सवार' में 'गीधू' की हत्या के लिए भी उसकी ही जाति, के लोग उत्तरदायी हैं।

वस्तुतः उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द पहले रचनाकार थे जिनकी अधिकांश रचनाओं में दलित क्रांति-चेतना की सुगबुगाहट सुनाई देती है। भारतीय हिन्दू समाज की शास्त्र-सम्मत वर्ण-व्यवस्था के प्रति दलित समाज की संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार घोषित अनुसूचित जाति एवं प्रेमचन्द-समय की अस्पृश्य जाति के सदस्यों का आक्रोश-विद्रोह 'गोदान' उपन्यास में हरखू के माध्यम से व्यक्त हुआ है। यह तल्ल होकर कहता है— 'तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुआ हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दे दो। इस आक्रोश-क्रोध एवं विद्रोह का संगठित और दुस्साहसी रूप शियप्रसाद सिंह कृत 'अलग-अलग वैतरनी' उपन्यास में दृष्टव्य है जहां दलित जन एक जुलूस की शकल में सुगनी को सूरज सिंह की पत्नी का अधिकार दिलाने के लिए चल पड़ते हैं। रामदरश मिश्र कृत 'जल टूटता हुआ' जगदीश चन्द्र कृत 'धरती धन न अपना मधुकर सिंह कृत 'जंगली सुअर' आदि उपन्यासों में दलितों की मुक्ति वेतलर के अनेक आयाम मुखर हुए हैं। इसके साथ ही रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारू', उदय शंकर भट्ट कृत 'सागर, लहरें और मनुष्य', भगवतीचरण वर्मा कृत 'भूले-बिसरे चित्र' अमृतराय कृत 'बीच', रेणु कृत 'मेला आंचल', यादवेन्द्रशर्मा 'चंद्र' कृत 'पत्थर के आंसू' तथा 'हजार घड़ों का सवार', भैरव प्रसाद कृत 'सती मैया का चौरा', गोविन्द बल्लभ पन्त कृत 'जूनिया', आगरिगपुडि का 'नदी का शोर',

मधुकर सिंह कृत 'सबसे बड़ा छल', गोपाल उपाध्याय कृत 'एक टुकड़ा इतिहास', दयाशंकर मिश्र कृत 'छोटी बहू', ब्रजभूषण कृत 'मंगलोदय', दामोदर सदन कृत, नदी के मोड़ पर', रामकुमार भ्रमर कृत 'मोतिया', मन्नू भण्डारी कृत 'महाभोज', नरेश मेहता कृत 'नदी यशस्वी है', भीष्म साहनी कृत 'बसंती', बाला दुबे कृत 'मकान दर मकान', गिरिराज किशोर कृत 'परिशिष्ट', रमेशचन्द्र शाह कृत 'विस्सा गुलाम', भगवती शरण उपाध्याय कृत 'खून के छीटे इतिहास के पन्नों पर', राहुल सांस्कृत्यायन कृत 'सिंह सेनापति' संतराम बी.ए. कृत 'हमारा समाज', आदि उपन्यासों एवं अनेक कथाकारों की जनवादी, वामवादी, नव-वामवादी तथा समकालीन कहानी की प्रवृत्ति-प्रकृति के रूप में प्रकाशित कहानियों में सामाजिक शक्ति के उद्घोष बनते जा रहे दलित समाज के शोषण उत्पीड़न यातना से मुक्ति के मुखरित स्वर को देखा जा सकता है। फिर भी अमृतलाल नागर कृत उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल' में निर्गुनिया के द्वारा सामाजिक न्याय के संदर्भ में उठाया गया सवाल आज के समय में भी प्रासंगिक बना हुआ है। 'दुनिया में बड़े-बड़े गिरे लोगों की तकदीरें पलट गईं। अफ्रीका के लोग जो कल तक गुलाम थे, अब खुद मुख्तार हो गए। दुनिया में इत्त-इत्ता इन्कलाब जिदाबाद और आजादी के नारे लग गये पर हम मेहतरों को किसी ने आजाद नहीं किया बाबूजी।' सन् 1975-76 में प्रकाशित उपन्यास में उठाया गया सवाल 'दलितों में दलित' या 'अस्पृश्यों में अस्पृश्य' मानी जाने वाली जाति-विशेष को स्वतंत्रता, न्याय एवं बंधुत्व के आधार पर सामाजिक न्याय की दृष्टि से अक्षरशः सत्य प्रतीत नहीं होता।

दलित साहित्य: पृष्ठभूमि और प्रकृति' लेख में डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ ने लिखा है कि यह शोध का विषय होगा कि अन्य भारतीय भाषाओं में दलित लेखकों की संख्या कम क्यों है? ऐसा क्यों है कि हिन्दी, बंगला, पंजाबी, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं के दलितलेखकों ने ही दलित जीवन की नियति का विस्तृत एवं प्रमाणिक बयान किया है। बंगला में दलित साहित्य के विकास का श्रेय महाश्वेता देवी को है। उनकी जंगल के 'दावेदार' 'चेट्टि मुण्डा और उसका तीर' तथा 'अबलांत कौरव' आदि कृतियों में मुण्डा, कोल, संथाल आदि आदिवासियों के जीवन संघर्ष की अभिव्यक्ति दृष्टव्य है। आदिवासियों का मिशन, महाजन दिक्कू और सामंती तत्वों के अतिरिक्त सरकार से भी जूझना पड़ता है। अपनी दयनीयता और असहायता से उबरने के लिए शोषित आदिवासी जनों का अपने तीर-कमान पर भरोसा रखना अस्वाभाविक नहीं है। 'चेट्टि मुण्डा और उसका तीर' में शोषकों को स्पष्ट चेतावनी दी गई है 'तुम लोगों में कोई भी अपनी कचहरी में जिंदा नहीं बचेगा। पुलस अंधेरे में जब स्वरूप के दल के लोग तीर मार कर कुचले विष को लहू से बुझाएंगे तो कौन पुलस बचायेगी?'

अन्य भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य की कोटि में आ सकने योग्य बहुत सी सार्थक कृतियां लिखी गई हैं। तेलगू में लक्ष्मी नारायण की 'मालपल्लि', कन्नड़ में यू.आर. अनन्तमूर्ति की 'भारती पुर', पंजाबी में बसन्त कुमार रतन की 'सत विद्धा खूट्ट' और मलयालम में 'चेम्मीन' आदि कृतियां इस संदर्भ में पठनीय हैं। इन सब में जो सम्मिलित सोच उभरा है वह अन्याय, समता और बंधुत्व के निमित्त निर्मित भारतीय संविधान के सर्वथा अनुकूल है। 'भारतीपुर' में यू.आर. अनन्तमूर्ति ने ईश्वर के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करते हुए दीन-हीन मातंगों को सीना तानकर सिर उठाने की प्रेरणा दी है, तेलगू की 'करनिटिक नोरोच्चादे' ने प्रोतनना की पत्नी पार्वती का दुस्साहस इस बात का प्रमाण है कि दलित वर्ग निरूपाय एवं मूक नहीं रह सकता।'

शम्भूनाथ के संपादन में कलकत्ता से प्रकाशित 'समकालीन सृजन' नामक साहित्य और सामाजिक आलोचना की त्रैमासिक में 'तमिल नवजागरण और काव्य' शीर्षक लेख में आर. भानुमति लिखा है कि - 'भारत में नवजागरण का महत्वपूर्ण कार्य समाज में गहराई तक व्याप्त बुराइयों को उखाड़कर समाज को नवीन रूप प्रदान करता था। तमिल कवि भी हमारे समाज की बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाने में पीछे नहीं थे। उन्होंने अपने अपने पाठकों का ध्यान

समाज की दुःखद स्थिति की ओर आकृष्ट किया। अपनी विशिष्ट प्रतिभा से उन्होंने जातिवाद, छुआछूत, स्त्रियों के प्रति भेद-भाव, मजदूर वर्ग की दीन दशा, गरीबी आदि को तमिल कविता का विषय बनाकर समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों की निंदा की। अज्ञात काल से ही हमारे समाज में जातिवाद जैसी बुराई व्याप्त है। तमिल कवियों ने हिंदू समाज में पतन की ओर जाते लोगों के उत्थान पर बल दिया। भारतीय दसन कहते हैं – 'जन्म से कोई ऊंच-नीच नहीं होता। जो कहते हैं वे मूर्ख हैं। दूर करनी होगी हमें यह गलती। देश के सभी बच्चे एक मां की संतान हैं' तमिल कवि जातिगत भेद-भाव में छुआ-छूत की भावना के बिल्कुल विरुद्ध थे उनके अनुसार छुआ-छूत मानव के प्रति एक क्रूर व्यवहार है। उन्होंने मुक्त-भाव से दलित लोगों के उद्धार के लिए कविता लिखी। कविमणि देशिका विनायकम् पिल्ले ने अपनी कविता 'दलितों का आत्म-निवेदन' में हरिजनों के मन्दिर प्रवेश पर रोक की भर्त्सना की। .. शिव ने मकड़े तक को वरदान दिया था जबकि हमारे मन्दिर जाने तक पर रोक है। भयंकर देवी काली। जो शराब और मांस खाती हैं क्या ऐसी है कि भाग जाएगी। जब हम मन्दिर में घुसेंगे।

इतिहास के परिप्रेक्ष में उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी को औद्योगिक एवं वैधानिक क्रांति का काल कहना अनुपयुक्त न होगा। सामाजिक परिवर्तन एवं विकास देश के सर्वहारा वर्ग – श्रमिकों पर अवलम्बित है किंतु समाज में श्रमिकों-मजदूरों को श्रमनिष्ठा, ईमानदारी एवं कर्तव्य परायणता से जीवनयापन करने के उपरांत भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। इस संबंध में तमिल कवियों के चिंतन एवं सृजन को रेखांकित करते आर. भानुमति ने लिखा है कि तमिल नव-जागरण के विकास काल में 'कवियों ने मजदूरों के महत्व पर कविताएं लिखीं। उनकी दयनीय स्थिति का चित्रण किया। उनका ध्यान गरीबी की ओर गया। आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग की उन्नति तथा आर्थिक समानता और भारतीय नव-जागरण का एक महत्वपूर्ण आदर्श रहा है। अतः तमिल कवियों का ध्यान गरीबी पर गया जो हमारे समाज में कोढ़ की तरह है। कविमणी देशिका विनायकम् पिल्ले ने अपनी कविता में गरीब जनता की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है- 'कभी हमने अच्छा दिन नहीं देखा। कभी भरपेट भोजन नहीं खाया। रोज रात-दिन भटकते रहे। गरीबी से निकलने के लिए। सभी रास्ते बंद थे। तुम अक्सर कहते हो- काफी। काफी।। हमने कभी नहीं देखा इसे। यह क्या खाने की कोई चीज है। या कमौज। या टोपी-कृपया बताइये।'

पत्तुक्कोट्टई कल्याण सुन्दरम् कहते हैं – 'मधु का समुन्दर लहरा रहा है। खेतों में धान पक कर तैयार है। तब भी आश्चर्य है। हमें खाना नहीं मिलता। पेट पीठ पर सट गया है।' गरीबी दूर करने के लिए तमिल कवियों ने समाजवाद की चर्चा की है। भारतीय दसन ने अपनी कविता में कहा है- समाजवाद की चेतना फैला दें हम। दशों दिशाओं में। हमें अपने जीवन की तरह। रक्षा करनी है उस चेतना की।' कवि रघुनाथन ने कहा है- दृढ़ता से खड़े होंगे हम और भय नहीं करेंगे। थोड़े से लोग ही सुखी हैं यह स्थिति बदलनी चाहिए। तब तक लड़ते रहेंगे हम दृढ़ता से। उस परिस्थिति में जब राष्ट्रीयता को नष्ट करती हुई क्षेत्रीयता पनप रही थी, स्त्रियों तथा अछूतों को अच्छे दिनों की तलाश थी, मजदूरों का शोषण कर पूँजीपत पनप रहे थे, धनी और अधिक धनी तथा गरीब और अधिक गरीब हो रहे थे, भारत में विभिन्न क्षेत्रों में नवजागरण की सशक्त लहरें उठ रही थीं। तमिलनाडु उन लहरों में अछूता न था। नए विचारों में समाज और साहित्य डूब-उतरा रहे थे। उस समय तमिल कविता की भूमिका क्रांतिकारी महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय थी।' आर. भानुमति के इस लेख का हिन्दी में अनुवाद विश्वभर दुबे ने किया है।

इस प्रकार यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि कोई भी सच्चा साहित्यकार और उसका साहित्य समकालीन सामाजिक स्थिति से विच्छिन्न नहीं होता है किन्तु वह अपने समकालीन समाज का प्रतिबिंब मात्र भी नहीं होता है, वह तो उसे बदलना भी चाहता है। इस कारण धारणाओं के अनुकूल उसे बनाना भी चाहता है। इसी कारण साहित्य की प्रवृत्तियों और साहित्यिक आंदोलनों का स्वरूप सम-सामायिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक

vorkjokn dk l ekt'kkL= vkj ykd/keZ

& pkfkhjke ; kno

अवतारवाद की अवधारणा पुराणकारों की मौलिक प्रतिभा, विराट कल्पना और उनके स्वतंत्र चिंतन की भविष्योन्मुखी दृष्टि का प्रमाण है, जिसकी सहायता से उन्होंने छिन्न-भिन्न हो चुकी वर्ण-व्यवस्था को पुनर्व्यवस्थित कर वर्ण धर्म की रक्षा करने में सफलता अर्जित की थी। इस प्रक्रिया में कृष्ण को ही पूर्णावतार क्यों मान लिया गया? इसे समझना आवश्यक प्रतीत होता है। वस्तुतः भारत की सांस्कृतिक परंपरा के विकास में कृष्ण का बहुआयामी व्यक्तित्व कई बार इतिहासकारों के लिए रहस्यमयी पहली साबित हुआ है। मिथकीय संश्लिष्टताओं में उलझा हुआ कृष्ण का चमत्कारी व्यक्तित्व आर्य और अनार्य, निगम और आगम, ब्राह्मण और अब्राह्मण आदि न जाने कितने परस्पर विरोधी युग्मों के बीच सामंजस्य सेतु बनता आया है। वैदिककाल का नर देवता, पुराणकाल में विष्णु का पूर्णावतार, द्वापर युग का निर्माता, गीता का महान कर्मयोगी, नटखट बाल गोपाल, गोपियों का प्रेमी, राधा का अनन्य अनुरागी, नटनागर लीला पुरुष, जलपरियों के साथ क्रीड़ा करने वाला, अप्सराओं के साथ रमण करने वाला, परम वीर्यवान और संभोगी; आश्चर्य होता है कि इतने सारे चेहरे क्या एक ही कृष्ण के चेहरे हैं? परस्पर विरोधी गुणों वाला ऐसा विलक्षण व्यक्तित्व ही परस्पर विरोधी परंपराओं में सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित कर सकता था। कितना मिथकीकरण किया गया है यदु कबीले के नर देवता का, यज्ञ विरोधी गोरक्षक कृष्ण का, इंद्र को अपदस्थ करने वाले जननायक का! वह जिस भी रूप में आया, मनुष्यता सदैव उसके साथ रही। वैदिककाल से लेकर मध्यकालीन सूरदास के गोचारी काव्य तक कृष्ण की ऐतिहासिक यात्रा वस्तुतः जननायक से लोकनायक बनने की ही अंतर्यात्रा है; भले ही समय-समय पर उसे ईश्वर का मुकुट भी पहनाया जाता रहा हो। लेकिन सूरदास के लिए वह मुकुट किसान संस्कृति के किसी प्रभावशाली मुखिया की पगड़ी से ज्यादा अहमियत नहीं रखता।

वैदिककाल का सीमांत और उत्तर वैदिककाल का आरंभ भारतीय इतिहास का वह समय है जब आर्यों का पशुचारी जीवन कृषि जीवन में रूपांतरित हो रहा था। कृषि केंद्रित इस नई जीवन पद्धति में इंद्र के वर्चस्व वाली यज्ञ प्रणाली और निरंतर होने वाले युद्ध बहुत महंगे और घातक सिद्ध हो रहे थे; उस स्थिति में तो और भी जब यज्ञों के लिए मवेशी तथा अन्य पशु बिना मूल्य चुकाए ही हथिया लिए जाते थे। जाहिर है कि ऐसे यज्ञ, पशुपालक किसानों के आर्थिक शोषण के जटिल कर्मकांड बन गए थे। सामाजिक जीवन के इस परिवर्तित मोड़ पर किसानों के हित में यज्ञ और इंद्र का विरोध एक ऐतिहासिक अनिवार्यता बन गया था। ऐसे ही समय, यज्ञ और इंद्र का विरोध करने के कारण गोरक्षक कृष्ण ने किसानों का प्रवक्ता बन, जननायक का गौरव अर्जित कर लिया और लगातार बढ़ती लोकप्रियता ने उसे पूज्य बना दिया। यही कारण है कि इंद्र पूजा को अपदस्थ कर कृष्ण पूजा का प्रचलन आरंभ हुआ। पुराणकाल तक आते-आते इंद्र का वर्चस्व टूटने लगा और ऋग्वेद के उपेक्षित देवता विष्णु सहसा महत्वपूर्ण हो उठे।

पुराणकाल वस्तुतः सांस्कृतिक संगम का काल है। बुद्ध के व्यापक प्रभाव के चलते ब्राह्मण धर्म काफी कमजोर हो चला था। बुद्ध ने वैदिक यज्ञ प्रणाली और उसके जटिल कर्मकांड का विरोध किया और वर्ण-व्यवस्था की असंगतियों और ब्राह्मण श्रेष्ठता को चुनौती देते हुए ऊपर के दो वर्णों का क्रम ही उलट दिया। आकस्मिक नहीं है कि पालि साहित्य में कहीं कहीं क्षत्रिय पहले पायदान पर और ब्राह्मण दूसरे पायदान पर दिखाई देते हैं। अतः पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो चुकी वर्ण-व्यवस्था की रक्षा करना और श्रेष्ठता का गौरव पुनः अर्जित करना वर्णाश्रम समर्थक बुद्धिजीवियों की प्राथमिक चिंता थी। बुद्ध के व्यापक प्रभाव को निरस्त करने के लिए उन्हें एक ऐसे सामंजस्यशील

व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जिसके माध्यम से आर्य और वैदिक परंपरा के शुद्धतावादी मूल चरित्र को सुरक्षित रखते हुए प्रबल हो चली आर्यतर और निगम विरोधी सांस्कृतिक परंपराओं का सामंजस्य हो सके जिनका समाज पर गहरा प्रभाव था, खासतौर पर कला संस्कृति के क्षेत्र में। इसके लिए कृष्ण के अलावा कोई दूसरा हो भी नहीं सकता था जो आर्यतर और आगमिक परंपराओं के नृत्य, गीत, संगीत के कला मूल्यों और कला विलास के लालित्य का सामंजस्य कर सके। यह सामंजस्य शुद्धतावादी आर्य परंपरा के वाहक राम के द्वारा संभव ही नहीं था। अतः उन्हें केवल बारह कलाओं का अवतार और कृष्ण को सोलह कलाओं का पूर्णावतार माना गया। यह सामंजस्य, उत्तरोत्तर अलग-थलग पड़ते जा रहे ब्राह्मण धर्म की लाचारी थी जिसे प्रायः हिंदू धर्म की उदारता के नाम पर प्रचारित किया जाता है। किसी समय अनार्य देवता माने जाने वाले लोकशक्ति के नायक कृष्ण की स्वीकृति वस्तुतः एक प्रकार का समझौता था जिसके माध्यम से ब्राह्मण धर्म को पुनरुज्जीवित किया गया।

आकस्मिक नहीं है कि उस काल में लिखी गई सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक कृति *गीता* जो आज भी हिंदू आस्था की प्रतीक है, उसमें कृष्ण को न केवल नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया बल्कि सर्वेश्वर का गौरव भी प्रदान किया गया, लेकिन इस शर्त के साथ कि वर्ण धर्म की रक्षा और उसके विरोधियों के संहार के लिए समय-समय पर अवतार लेते रहना पड़ेगा। इस प्रकार जननायक कृष्ण को अपने ही लोक के विरुद्ध खड़ा कर पुराणकारों ने स्वयं अपने पक्ष में उन्हें झुका लिया और न केवल अपने वर्तमान बल्कि भविष्य को भी सुरक्षित कर लिया। शर्तनामे पर हस्ताक्षर करते हुए योगिराज कृष्ण ने न केवल 'संभवामि युगे युगे' का आश्वासन दिया बल्कि 'चातुर्वर्ण मया स्रष्टं' का प्रमाणपत्र भी प्रदान किया।

दाद देनी पड़ती है उन हिंदू शास्त्रकारों की प्रतिभा और कंप्यूटर की तरह काम करने वाले उनके दिमाग की जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था को पोखता और अकाट्य बनाने के लिए समय-समय पर पूर्वजन्म, कर्मफल, भाग्यवाद, अवतारवाद और प्रतिपक्ष के लिए कलिकाल जैसी अवधारणाओं का विकास किया। शतरंज के मंजे हुए खिलाड़ी की तरह ये हारी हुई बाजी को भी जीतना जानते थे और यह भी कि किस मोहरे को किस मोहरे से पीटा जा सकता है। अवतारवाद के उद्देश्य को चरितार्थ करने और उसके प्रचार प्रसार के लिए उन्हें कृष्ण के रूप में एक कारगर मोहरा मिल गया था जिससे वे किसी भी मोहरे को मात दे सकते थे। अवतारवाद की पौराणिक कल्पना शतरंज की तरह ही ऐसा दिमागी खेल है जिसमें कभी महावीर को, कभी बुद्ध को तो कभी कृष्ण को कारगर मोहरे के रूप में इस्तेमाल किया गया है। इस खेल की विशिष्टता यह है कि मोहरे चाहे काले हों या सफेद, जीत हमेशा ईश्वर की ही होती है। वस्तुतः यह वर्चस्व और प्रतिरोध की संस्कृति के बीच शह और मात का ऐसा खेल है जो धरती की पुकार पर ईश्वर और असुरों के बीच खेला जाता है और 'रिमोट कंट्रोल' गगन विहारी देवताओं के हाथ में होता है। आकाश से फूल बरसा कर विजय की घोषणा वहीं करते हैं। इस खेल में लोक की भूमिका नगण्य है। मध्यकाल में इसका सुसंगत विकास तुलसीदास के *रामचरितमानस* में देखने को मिलता है जहां सभी मोहरों को मात देने वाला कृष्ण का शक्तिशाली मोहरा राम में रूपांतरित हो गया है और टीकाकारों की चिंता से चिंतित गोस्वामी तुलसीदास ने बड़ी चतुराई के साथ इस खेल में लोक को भी शामिल कर लिया है। लोक और शास्त्र के द्वंद्वात्मक संघर्ष ने अवतारवाद के खेल को और भी दिलचस्प और आकर्षक बना दिया है – सभी खुश, शास्त्रवादी भी और लोकवादी भी। पता ही नहीं चलता कि इस द्वंद्व में तुलसीदास कहां हैं? कबीर जैसी दो टूक स्पष्टता के अभाव में तुलसी के पक्ष का निर्णय करना इतना आसान भी नहीं है क्योंकि *रामचरितमानस* में शास्त्र भी है और लोक भी, वर्णधर्म है तो लोकधर्म भी, पौराणिक पुनर्जागरण है तो लोक जागरण का किंचित स्वर भी। इन परस्पर विरोधी युगों का सामंजस्य कैसे हो सकता है? समन्वय का दर्शन अपने आप में बड़ा खतरनाक दर्शन है। वर्णाश्रम विरोधी क्रांतिकारी विचारों को निरस्त करने के लिए यह वर्णाश्रम समर्थक बुद्धिजीवियों का पुराना हथकंडा है। इसके अनुसार पहले तो

का लोक और लोकधर्म आचार्य शुक्ल के वर्णाश्रमधर्मी लोक और लोकधर्म से सर्वथा भिन्न है और व्यापक भी। द्विवेदी जी के अनुसार—

“लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नागर में परिष्कृत, सुरुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और आकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं। और परिष्कृत रुचि वाले तमाम लोगों की विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उन्हें उत्पन्न करते हैं।”

(जनपद, अंक 1, वर्ष 1)

कबीर सहित निर्गुण धारा के संत और सूर की गोपियां इसी लोक के प्राणी हैं। लोक की इसी जमीन से उन्होंने अपने व्यावहारिक ज्ञान द्वारा पोथी पंडितों को चुनौती दी थी। यही लोक हिंदी कविता की जन्मभूमि है जो समय-समय पर उसको ऊर्जा प्रदान करती है और निष्प्राण होती कविता में प्राण का संचार कर उसे पुनर्नवा बनाती है।

मध्यकालीन सामंती पुरोहिती समाज-व्यवस्था में दलित और स्त्रियां ही शास्त्रों के सर्वाधिक कोपभाजन रहे हैं और सामंती उत्पीड़न के शिकार भी। इसलिए उस अलगाववादी समाज-व्यवस्था और उसके पोषक शास्त्रों एवं शास्त्रकारों के प्रति कबीर, मीरा और सूर की गोपियों का साहसिक प्रतिरोध स्वाभाविक भी है और सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भी। कबीर और सूर की गोपियों की तरह मीराबाई ने भी जीवगोस्वामी को चुनौती देते हुए उनके ज्ञान के अहंकार और पुरुष श्रेष्ठता के मिथ्या दंभ को चकनाचूर किया था। इतना ही नहीं, मीराबाई मध्यकाल की ऐसी अकेली रचनाकार हैं जिन्होंने सामंतवाद के गढ़ में सामंतवाद को चुनौती देते हुए सिंहासनारूढ़ राणा को मूर्ख और हत्यारा — ‘मूर्ख जण सिंहासन राजा’ ‘राणा भगत संहारा’ — कहने का साहस दिखाया था और उनके सामंती समाज को कूड़ा कह कर उसे टुकरा दिया था —

“राणा जी थारों देसड़लौ रंगरूड़ौ।

थांरां देसां मां राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ौ।”

(मीरां माधुरी, संपा, ब्रजरत्न दास, पद 113)

अतः प्रतिरोध की इस सामाजिक वैचारिकी की दृष्टि से कबीर, मीरा और सूर की गोपियां एक कतार में खड़ी दिखाई देती हैं और यह कतार ‘शूद्र पशु नारी’ की पौराणिक कतार के प्रतिरोध में खड़ी लोकधर्मी कतार है। निर्गुण-सगुण का विवाद वस्तुतः ब्रह्म के स्वरूप को लेकर अवतारवाद के पक्ष में खड़ा किया गया एक दार्शनिक विवाद है जो हिंदी के अलावा अन्य भाषाओं के भक्ति काव्य में नहीं मिलता। यह हिंदी आलोचना का संकट है, रचना का नहीं। स्वयं कबीर और तुलसी यह स्वीकार करते हैं कि निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। मीराबाई का एक पांव निर्गुण भक्ति में है तो दूसरा सगुण भक्ति में। सगुण भक्ति में भी जितने करीब वह सूरदास के हैं उससे कहीं ज्यादा गुजरात के नरसी मेहता के निकट प्रतीत होती हैं। इतना ही नहीं, मीराबाई अंदाज के माध्यम से दक्षिण की अलवार भक्ति और नृत्य संगीत की कला संस्कृति को उत्तर भारत से जोड़ती हैं तो सूरदास के साथ पूरब के जयदेव और विद्यापति की कृष्ण-भक्ति को पश्चिम से जोड़ती हैं। जाहिर है कि अखिल भारतीय स्तर पर सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने वाली मीराबाई की भक्ति का दायरा कहीं ज्यादा व्यापक और विस्तृत है जिसे निर्गुण और सगुण की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। यदि कृष्ण पूर्णावतार है तो मीराबाई की कृष्ण-भक्ति उस पूर्णता की सच्ची विरासत है। अतः कबीर, मीरा और सूर की भक्ति के स्वरूप को निर्गुण-सगुण के आधार पर नहीं, उनके सामाजिक चिंतन के आधार पर समझा जाना चाहिए।

तरह गहरी रुचि नहीं दिखाई और अवतारवाद के सुसंगत प्रतिपादन में उनकी वृत्ति उतनी लीन नहीं हुई तो जाहिर है कि वह तुलसीदास की अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रगतिशील हैं। यह अकारण नहीं है कि भक्ति आंदोलन के लोक-जागरण का स्वर *सूरसागर* में तो बहुत कुछ सुरक्षित है लेकिन *रामचरितमानस* में वह पुनर्जागरण में रूपांतरित हो जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का दृष्टिकोण लोक-जागरण के प्रति बहुत कुछ नकारवादी है तो तुलसीदास के यथार्थिवादी पुनर्जागरण के प्रति उनकी पूरी आस्था है।

सूर और तुलसी का यही दृष्टि-भेद उनके काव्य नायकों, कृष्ण और राम के व्यक्तित्व निर्माण में भी अपनी भूमिका अदा करता है। सूर के कृष्ण पौराणिक कृष्ण नहीं हैं। हां, तुलसी के राम में पौराणिक कृष्ण का सीधा रूपांतरण अवश्य हुआ है। 'चातुर्वर्ण मया स्रष्टं, और 'संभवामि युगे युगे' का पुनर्पाठ तुलसी के राम प्रस्तुत करते हैं, सूर के कृष्ण नहीं। सूरदास ने पुराणकारों से सर्वथा भिन्न अपने कृष्ण का स्वयं निर्माण किया है और *सूरसागर* में कृष्ण की जो छवि उभरती है वह धर्मरक्षक कृष्ण की नहीं बल्कि लोकनायक और लोकरक्षक कृष्ण की। नटखट बाल-गोपाल तो सूर की नितांत मौलिक कल्पना है। सूरदास के कृष्ण सामान्य मनुष्य का जीवन जीते हैं जबकि तुलसी के राम प्रायः ईश्वर ही बने रहते हैं। राम मर्यादा के बंधन में बंधे हुए हैं और कृष्ण उन्मुक्त और स्वच्छंद हैं। *रामचरितमानस* का समाज *सूरसागर* के समाज से बिलकुल भिन्न समाज है, वह तुलसी का समय समाज भी नहीं, पौराणिक समाज है जिसमें 'रामराज्य' की अतिरंजित कल्पना की गई है। उस कल्पित रामराज्य में सभी वर्णाश्रम धर्म के अनुसार आचरण करते हैं घर-घर में पुराण होता है, सागर अपनी मर्यादा में रहता है, चारों तरफ सुख, संतोष और विवेक का साम्राज्य है... आदि-आदि। जाहिर है कि तुलसी युगीन समाज से इसका कोई सामंजस्य नहीं बैठता। *रामचरितमानस* विगत युगों की नैतिकता का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यहां तुलसी नहीं उनका मुखौटा बोलता है, पुराणकार का मुखौटा! मुखौटा सहायता भी करता है और रक्षा भी। शूद्रों और स्त्रियों को अपमानित कीजिए, विप्रों की पूजा कीजिए, जो मन में आए सो कीजिए पाठ-कुपाठ, पद-कुपद; जवाबदेही के लिए मुखौटा तैयार! बड़े काम की चीज है यह मुखौटा! पता ही नहीं चलता कि आप बोल रहे हैं या मुखौटा! लेकिन बहुत देर तक आप इसे लगाए नहीं रख सकते, सांस फूलने लगती है, दम घुटने लगता है, और तब मुखौटे का मोह छोड़ना ही पड़ता है। सो, तुलसीदास को भी मुखौटा उतारना ही पड़ा, आखिर कब तक अपना असली चेहरा उसमें छिपाए फिरते? *रामचरितमानस* में इस मुखौटे ने पहचान का संकट खड़ा कर दिया था।

तुलसीदास का *रामचरितमानस* पूर्वाद्ध की रचना है और *विनय पत्रिका*, *कवितावली*, *हनुमान बाहुक* आदि को उत्तराद्ध के अंतर्गत रखा जा सकता है। पूर्वाद्ध से उत्तराद्ध तक तुलसी की काव्य यात्रा वस्तुतः उनके मोहभंग की अंतर्यात्रा है जिसमें पौराणिक बोध से मुक्त होने और आधुनिक बोध से जुड़ने का द्वंद्वत्मक संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। तुलसी को देखना है तो उनको उत्तरकालीन काव्य यात्रा में देखा जा सकता है, जहां वह पुराणकार की खोल से बाहर निकलते हुए एक सच्चे भक्त कवि के रूप में देखे जा सकते हैं, जहां तुलसी का अपना समय समाज है, जीवन के दुःख-दर्द हैं, जद्दोजहद है। यहां असुर उत्पीड़न का कल्पित हाहाकार नहीं बल्कि अपने युग की कड़वी सच्चाई से सीधा साक्षात्कार है जिसमें तुलसी की आपबीती भी है और जगबीती भी। *विनय पत्रिका* और *कवितावली* के जिस समाज का सामना तुलसीदास को करना पड़ता है वह उनका देखा-सुना और भोगा हुआ समाज है। यही असली समाज है। दुःख, दारिद्र्य, भूख, अकाल, लाचारी आदि के कितने ही यथार्थ चित्र खींचे हैं महाकवि ने, जिनमें आपबीती का दर्द भी है और जगबीती की लोकपीड़ा भी— 'आगि बड़बागि से बड़ी है आगि पेट की।' ¹ किसान न खेती कर पा रहा है और न भिखारी को भीख मिलती है। दरिद्रता रूपी दशानन ने पूरे समाज को अपनी गिरफ्त में ले रखा है जिसके कारण

जाहिर है कि यह परिस्थिति बुद्ध के आंदोलन ने पहले ही पैदा कर दी थी और बौद्ध चिंतक बड़े तार्किक ढंग से वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण श्रेष्ठता के पाखंड पर कड़ा प्रहार कर रहे थे। भारतीय इतिहास में बुद्ध का काल प्रगति और विकास का काल है और यही काल पुराणकारों का कलिकाल है। तुलसीदास का कलिकाल वर्णन इसी पौराणिक कलिकाल का पुनर्पाठ है। फर्क इतना ही है कि यहां निशाने पर बौद्ध आंदोलन के स्थान पर उसी से प्रभावित सिद्धों, नाथों और निर्गुण संतों का क्रांतिकारी आंदोलन आ गया है जो उसी तरह वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण श्रेष्ठता को चुनौती दे रहा था। इस आंदोलन से उत्पन्न कलियुगी प्रभाव का आकलन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरकांड के अंत में कलियुग के कवियों को किस भाषा में याद किया है, बानगी के तौर पर कुछ उद्धरण दिए जा सकते हैं—

1. साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान।³
2. श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक।
तेहि परिहरहिं विमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।⁴
3. बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम तें कुछ घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आंखि देखावहिं डांठि।⁵
4. असुभ वेष भूषन धरे भच्छा भच्छ जे खांहिं।
तेई जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलियुग मांहिं।⁶
5. दंभिन निज मति कल्प करि प्रगट किए बहु पंथ।⁷
6. बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।⁸
7. सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि वरासन कहहिं पुराना।⁹

क्या विडंबना है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने पौराणिक पुनर्पाठ में कोल, किरात आदि वन्य जातियों एवं निम्न वर्ग से आने वाले संत कवियों के साथ जो सलूक किया, बौद्ध, सिद्धों और अवधूतों को दंभी और पाखंडी कहा, वही सलूक रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने स्वयं तुलसीदास के साथ किया। सतत अकेले पड़ते जाने की वेदना को तुलसीदास ने मोहभंग की अंतर्यात्रा में बराबर महसूस किया है। अकेलेपन की अनुभूति तब और गहरा जाती है जब उनकी जात-पांत के विरुद्ध उंगली उठने लगती है—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ। जोलहा कह कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न व्याहब काहू की जाति बिगारि न सोऊ।¹⁰

वर्णाश्रमधर्मी स्थिति से बाहर निकल कर इस नई स्थिति में वह जात-पांत से परे हैं, किसी की बेटी से बेटा ब्याह कर उसकी जाति नहीं बिगाड़नी है। एकाकी पड़ते जाने की अंतर्व्यथा और स्वयं निर्मित वर्णाश्रमधर्मी संरचना से आत्म निर्वासन की पीड़ा, उस परिस्थितिजन्य मनोदशा का अहसास करती है जिसके चलते शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहे जाने का अंश झेलना पड़ा होगा। आकस्मिक नहीं है कि दोनों अपने-अपने समय के महान समाहारकर्ता माने जाते हैं। दोनों को घर की 'बिलबिल' और बाहर के 'दुर दुर' से दो-चार होना पड़ा। तुलसीदास रटते रह गए 'पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना'¹¹ लेकिन यह उन पूजनीयों के लिए उतना महत्वपूर्ण

llkjrh; nfyf l kfgR; %foopuk

नहीं था जितना यह कि ब्राह्मण होकर तुलसीदास नीची जाति के संत—महात्माओं के साथ उठता ही नहीं बल्कि खाता—पीता भी है। उन्होंने 'कागद की लेखी' पर विश्वास न कर 'आंखिन देखी' पर ही विश्वास किया और उनकी दृष्टि में वर्णच्युत तुलसीदास जुलाहे कबीर और 'भच्छाभच्छ' खाने वाले तथाकथित पाखंडी एवं धूर्त अवधूतों की कतार में ही रहने लायक समझे गए। कितना कठिन है — 'दो विरुद्धों का सामंजस्य', इसे तुलसीदास ने स्वयं महसूस किया था — 'हंसब ठठाई फुलाउब गालू'। और हम हैं कि समन्वयवाद का झुनझुना बजाए चले जा रहे हैं। कागज पर समन्वय कर देना एक बात है, सामाजिक जीवन में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का सामंजस्य बिलकुल दूसरी बात।

निर्गुण भक्ति आंदोलन अपने समय की एक क्रांतिकारी विचारधारा है जो वर्चस्ववादी संस्कृति के विरुद्ध प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण करती है। यदि *रामचरितमानस* में इन परस्पर विरोधी विचार परंपराओं का सामंजस्य हो गया तो वर्णाश्रमधर्मी 'रामराज्य' के ठीक नाक के नीचे प्रतिरोध की संस्कृति का वाहक कलिकाल कहां से प्रकट हो गया? रामराज्य अलग, कलिकाल अलग — 'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न' की शैली में, फिर समन्वय की 'इच्छा' पूरी कैसे हो गई? कहां हैं रामराज्य में दलित और अल्पसंख्यक, शूद्र और स्त्रियां? शूद्रों और स्त्रियों के लिए यदि किंचित 'स्पेस' है भी तो वह सदियों की गुलामी के साथ, कर्तव्य के बोझ से दबी हुई और अधिकारों से वंचित घृणा की सीमा तक अपमानित और तिरस्कृत— 'अधम ते अधम अधम अति नारी'।¹² आकस्मिक नहीं है कि पौराणिक समाज में निरीह पशुओं की कतार में खड़े किए गए हैं — शूद्र और स्त्रियां! पशुओं की तरह ही अपने मालिक के खूटे से बंधे हुए हैं। जरा सी ढील देने से इनके बिगड़ जाने की चिंता पुराणकारों को बराबर सताती रहती है — 'जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी'।¹³ आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसी को कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था कहते हैं और तुलसीदास के रामराज्य में स्थापित कर्तव्य की इस पुष्ट व्यवस्था को और पोख्ता बनाने का प्रयास करते हैं जिसे निर्गुणधारा के संतों ने बहुत कुछ छिन्न भिन्न कर दिया था।

तुलसीदास के कलिकाल वर्णन से जो सात उद्धरण ऊपर दिए गए हैं, उनमें से तीन आरंभिक उद्धरणों के आधार पर आचार्य शुक्ल तुलसी की पुष्ट कर्तव्य व्यवस्था का आकलन करते हुए एक बार फिर यह याद दिलाना नहीं भूलते कि

“सगुण धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर दादू आदि के लोकधर्म विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामी जी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में एक घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विश्रुंखल हो जाएगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जाएगी।”

(रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ. 134—35)

तुलसीदास ने जो देखा, सो देखा; उसे देखकर आचार्य शुक्ल ने कुछ और भी देखा जिसे देखने से तुलसीदास भी चूक गए थे। वह यह कि सगुण भक्ति भारतीय हैं और निर्गुण भक्ति अभारतीय, जबकि कबीर और तुलसी दोनों निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं मानते। दूसरी बात यह कि वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा पैदा करने वाले कबीर आदि के जात—पांत विरोधी विचारों से किस जनता की चित्तवृत्ति में घोर विकार की आशंका है? शिक्षित जनता या अशिक्षित जनता? स्वयं शुक्ल जी के अनुसार,

“इस पंथ (निर्गुण) का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत—महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है।” (*हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ.73)

फिर कबीर के उपकार को खासतौर से रेखांकित करते हुए लिखते हैं –

“इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया।”

(हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 67)

निश्चय ही कबीर की प्रशंसा में लिखी गई आचार्य शुक्ल की ये पंक्तियां न केवल कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व की ओर संकेत करती हैं बल्कि ठीक मौके पर जनता के बहुत बड़े भाग को संभाल लेने वाले और निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाने वाले कबीर के लोकजागरण की सामाजिक भूमिका की पहचान भी कराती हैं। सवाल यह है कि एक नाजुक मोड़ पर बहुत बड़े जनसमुदाय को सही मार्ग दिखाने वाले, जनता में आत्मगौरव का बोध जगाने वाले और भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने वाले कबीर के क्रांतिकारी विचार आखिर किस जनता की चित्तवृत्ति में विकार पैदा कर रहे हैं? कहीं यह वही जनता तो नहीं जिसे कबीर सौ साल पहले फटकार चुके थे? और उस फटकार में पंडितों की फटकार भी शामिल थी जिसकी चर्चा आचार्य शुक्ल सिद्धों, नाथों और कबीर के मूल्यांकन में बार-बार करते हैं, बाकायदा शीर्षक लगा कर—‘पंडितों की फटकार।’ इस डांट-फटकार वाली आलोचना का स्रोत भी तुलसी का वह उद्धृत दोहा है जिसका अंतिम बंद है— ‘आंखि देखावहिं डांटे।’ क्या कारण है कि सौ साल पहले कबीर के क्रांतिकारी विचार सौ साल बाद तुलसी तक आते-आते विकार में बदल जाते हैं?

आश्चर्य तो इस बात का है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल मानस की धर्मभूमि के रास्ते तुलसी तक पहुंचते ही कबीर संबंधी अपने प्रगतिशील मूल्यांकन और कबीर की ‘प्रखर प्रतिभा’ को वैसे ही भूल जाते हैं जैसे दृष्यंत शकुंतला को—पता नहीं जानबूझ कर या किसी अभिशाप के कारण! जब तुलसी की आंख से कबीर को दुबारा देखते हैं तो अपनी आंख से उनका विश्वास ही उठ जाता है; अपने ही प्रगतिशील मूल्यांकन को खारिज कर कबीर का एक दूसरा ही चेहरा पेश कर देते हैं जो ‘मूर्खता मिश्रित अहंकार की वृद्धि’ कर रहा है। वह लिखते हैं—

“साथ ही उन्होंने (तुलसी) यह भी देखा कि बहुत से अनधिकारी और अशिक्षित वेदांत के कुछ शब्दों को लेकर यों ही ज्ञानी बने हुए मूर्ख जनता को लौकिक कर्तव्यों से विचलित करना चाहते हैं और मूर्खता मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे हैं।” (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 135)

क्या उलटवांसी है कि यहां आते ही जनता में आत्मगौरव का भाव जगाने वाला ज्ञान ‘मूर्खता मिश्रित अहंकार’ में बदल जाता है और आत्मगौरव के बोध से जागरूक जनता भी ‘मूर्ख जनता’ में रूपांतरित हो जाती है। दूसरी बात यह कि ‘यों ही ज्ञानी बने हुए’ का मतलब क्या है? ज्ञानी तो आपने ही बनाया ‘ज्ञानाश्रयी शाखा’ से नाम जोड़ कर! देखने की बात यह है कि क्या कबीर की निम्नलिखित पंक्तियां शुद्धतावाद की वर्जनाओं से घिरे यथास्थितिवादियों के अलगाववाद के विरुद्ध लोकजागरण का संदेश दे रही हैं या मूर्खता मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रही हैं—

1. चारिउ वेद पढ़ाइ करि, हरि सूं न लाया हेत।

बालि कबीरा ले गया, पंडित दूढ़ै खेत।¹⁴

॥११॥; न०१०॥ ॥११॥; %१०००॥

2. ब्राह्मण गुरु जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं बेदां गाहिं।¹⁵
3. पांडे कौन कुमति तोहिं लागी, तू राम न जपहिं अभागा।¹⁶
4. काहें को कीजै पांडे छोति विचारा।
छोतिहीं तैं उपना सब संसारा।¹⁷
5. हमारे कैसे लोहू तुम्हारैं कैसे दूध।
तुम्ह कैसे बांम्हण पांडे हम कैसे सूद।¹⁸
6. पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर पीव का, पढ़ै सो पंडित होइ।¹⁹
7. सुन्नत कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिये।
अर्धशरीरी नारि बखानी, ताते हिंदू रहिए।।
पहिरि जनेऊ जो ब्राह्मण होना, मेहरी क्या पहिराया।
वो तो जन्म की शूद्रिन परसे, तू पांडे क्यों खाया।²⁰
8. पांडे बूझि पियहु तुम पानी।
जेहि मटिया के घर में बैठे, तामें सृष्टि समानी।²¹
9. एकै जनी जना संसारा। कौन ज्ञान से भयउ निनारा।²²

जाहिर है कि यहां जाति-व्यवस्था के पोषक अलगाववादियों को संबोधित इन उद्धरणों में जाति-व्यवस्था की असंगतियों पर प्रश्न खड़ा करने वाले एक जागरूक रचनाकार का अपने विपक्षी की आंखों में आंखें डाल कर किया गया संवाद है, एक सार्थक संवाद जो वाद-विवाद के बिना संभव भी नहीं है। इन उद्धरणों को तुलसीदास के उन सात उद्धरणों के साथ मिला कर देखा जाए तो वाद-विवाद की एक विमर्शकारी स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है। कबीर के इन प्रश्नों को तुलसीदास पूर्वपक्ष के रूप में लेते हुए अपने उत्तर पक्ष का प्रतिपादन करते हैं और इस विमर्श में आचार्य शुक्ल तुलसीदास के साथ खड़े हैं। अतः संतुलित दृष्टि वाले कबीर के इन क्रांतिकारी विचारों में यदि कोई विद्वान सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को नजरअंदाज कर उसमें केवल पंडितों और मुल्लाओं की फटकार ही सुन पाता है तो वह न केवल सरलीकरण का सहारा लेता है बल्कि जाने-अनजाने उन्हीं यथास्थितिवादियों की कतार में स्वयं अपने को भी खड़ा कर लेता है। यदि कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था करने वाले वर्णाश्रमधर्मी समाज की मर्यादा रक्षा ही लौकिक कर्तव्य है और वर्णाश्रम धर्म के प्रति श्रद्धा पैदा करने वाला कबीर 'मूर्ख जनता' को उन्हीं लौकिक कर्तव्यों से विचलित करना चाहता है तो निश्चय ही यह जनजागरण प्रगतिशील भी है और सराहनीय भी। कबीर और तुलसी संबंधी आचार्य शुक्ल की आलोचना के अंतर्विरोधों पर लीपापोती करने और अपने पूज्य की प्रतिमा की चमक बनाए रखने के लिए समन्वयवाद का दर्शन बड़ा सहायक सिद्ध होता है। यदि पूरे मध्यकालीन साहित्य को लोकजागरण का साहित्य मान लिया जाए तो तुलसीदास का पुनरुत्थानवादी स्वर अपने आप लोकजागरण में अंतर्भुक्त हो जाएगा।

तुलसीदास ने भक्ति आंदोलन के समतामूलक सिद्धांत को स्वीकार तो किया लेकिन जनता को यह बताते हुए कि सामाजिक जीवन में तो जात-पात के बंधन को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि यह व्यवस्था तो भगवान की बनाई हुई है। तुलसी के राम यह घोषणा अवश्य करते हैं –

सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सबते अधिक मनुज मोहिं भाये।²³

लेकिन वह ब्राह्मण श्रेष्ठता को रेखांकित करना नहीं भूलते—

तिन्ह मंहु द्विज—द्विज मंह श्रुति धारी।

तिन्ह मंहु निगम धरम अनुसारी।²⁴

सूर की भक्ति में सेवा, श्रद्धा और पूज्य भाव की अपेक्षा समतामूलक प्रेम भाव की प्रमुखता है जबकि तुलसीदास की शास्त्रसम्मत भक्ति दास्य भाव की भक्ति है जो स्वामी और सेवक के सामंती आदर्श को पुष्ट करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि *रामचरितमानस* में दोहरी व्यवस्था कायम की गई है जिससे वर्णाश्रम धर्म और भक्ति साथ-साथ चलते दिखाई पड़ते हैं। समतामूलक भक्ति से वर्णाश्रम धर्म का सामंजस्य हो भी कैसे सकता है? कई एक बार शबरी और निषाद के प्रसंग को उद्धृत कर उसे समतामूलक भक्ति के प्रमाणपत्र की तरह पेश किया जाता है। सवाल यह है कि क्या यह वही समतामूलक भक्ति है जिसे वर्णाश्रम व्यवस्था और ब्राह्मण श्रेष्ठता को चुनौती देने वाले निर्गुण भक्ति आंदोलन ने स्थापित किया था? यदि वही है तो देखने की बात यह है कि क्या इस भक्ति से वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा पर कोई आंच आती है या नहीं? तर्क तो यही दिया जाता है कि *रामचरितमानस* का समाज वर्णाश्रमधर्मी समाज नहीं, भक्ति समाज है अन्यथा 'निषाद को गले लगाना किस स्मृति की व्यवस्था है?'²⁵ निषाद को गले लगाने का प्रसंग निम्नलिखित है—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू।।
राम सखा रिसि बरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा।।
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहिं सुर बरसहिं फूला।।
एहि सम निपट नीच कोउ नाही। बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं।।²⁶

कहां है यहां वर्णाश्रमधर्मी समाज से भक्ति का सामंजस्य? समाज अलग, भक्ति अलग! पहली और चौथी पंक्ति में वर्णाश्रम धर्म अपनी पूरी मर्यादा के साथ उपस्थित है तो दूसरी और तीसरी पंक्ति में भक्ति, ऊपर नीचे वर्णाश्रम धर्म से घिरी हुई। पहली पंक्ति में 'वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का पालन और ब्राह्मण श्रेष्ठता का सम्मान करते हुए केवट ने अपना परिचय देकर दूर से ही पूज्य के चरणों में दंडवत (जमीन पर लेट कर) प्रणाम किया। वर्णाश्रमधर्मी समाज में प्रजा के लिए ऐसे ही दंडवत प्रणाम का विधान है जिसे स्वीकार करने के लिए पूज्य के चरण ही काफी हैं। दूसरी पंक्ति में भक्ति है जहां वशिष्ठ रामसखा से गले मिलते हैं। इसलिए ब्राह्मण वशिष्ठ 'निपट नीच' केवट से कहां मिले? वह तो रामसखा से गले मिले और यह जान लेने के बाद कि वह कोई सामान्य केवट नहीं बल्कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सखा निषादराज है जिसे उन्होंने स्वयं सम्मानित किया है। पहली पंक्ति में वर्णधर्म है तो दूसरी में लोकधर्म। लोकधर्म का पालन करते हुए वशिष्ठ रामसखा से गले मिलते हैं लेकिन वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा पर कोई आंच नहीं आती। तीसरी पंक्ति में भक्ति की महिमा का मंगल गान है तो चौथी पंक्ति में वर्णाश्रम धर्म और ब्राह्मण श्रेष्ठता का गौरव गान। इसी को कहते हैं – सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे। वर्णाश्रम धर्म और लोकधर्मी भक्ति

किरात—किरातिनों का साधु बनना यथास्थितिवादियों के लिए कलिकाल का लक्षण है। लेकिन इस कलिकाल से तुलसी की भक्ति को मानव मात्र की साम्य भावना लेकर चलने वाली कैसे सिद्ध किया जा सकता है? यदि कलिकाल से तुलसी की भक्ति का सामंजस्य मान भी लिया जाए तो तुलसी ने रामकथा को 'कलिमलहरनी' क्यों कहा? कलिकाल आया, इसमें संदेह नहीं; पर वह तो तुलसी से सौ साल पहले आया और लाने वाले थे कबीर, दादू आदि वर्णाश्रम धर्म के प्रति अश्रद्धा पैदा करने वाले संत कवि। तुलसीदास के कलिकाल वर्णन में कोल—किरात आदि वन्य जातियों सहित अलख जगाने वाले सिद्धों, अवधूतों तथा 'साखी सबदी दोहरा' कहने वाले कबीर आदि संतों को सूचीबद्ध किया गया है जिनकी भक्ति ने स्वयं आचार्य शुक्ल के अनुसार, 'मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे कर निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव' जगाया। निम्न श्रेणी की जनता के बीच से आने वाले किरात—किरातिनों का साधु बनना उसी लोक—जागरण का परिणाम है। यदि डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार तुलसी की भक्ति भी मानव—मात्र की उसी साम्य भावना को लेकर चली है तो कलिकाल के कवियों में उनका भी नाम होना चाहिए था पर वह तो

'बरन धर्म नहीं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर—नारी।।'³¹

की चिंता से चिंतित, वर्णाश्रम धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा में लगे हुए हैं जिसे कलियुगी कवियों ने छिन्न—भिन्न कर दिया था। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा भी हो और मानवमात्र की साम्य भावना पर आधारित वर्णाश्रम—विरोधी भक्ति की स्वीकृति भी, ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं?

आकस्मिक नहीं है कि भक्ति आंदोलन के अंतर्विरोधों और तुलसी के मूल्यांकन में प्रगतिवादी आंदोलन के भटकाव को लक्ष्य कर, प्रगतिवादी आलोचकों को आगाह करते हुए मुक्तिबोध को लिखना पड़ा था—

"आश्चर्य की बात है कि आजकल प्रगतिवादी क्षेत्रों में तुलसी के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उसमें जिस सामाजिक, ऐतिहासिक प्रक्रिया के तुलसीदास जी अंग थे, उनको जानबूझ कर भुलाया गया है। पंडित रामचंद्र शुक्ल की वर्णाश्रमधर्मी जातिवाद ग्रस्त सामाजिकता और सच्चे जनवाद को एक—दूसरे से ऐसे मिला दिया गया है मानो शुक्ल जी (जिनके प्रति हमारे मन में अत्यंत आदर है) सच्ची जनवादी सामाजिकता के पक्षपाती हों।"

(मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ. 294)

जाहिर है कि मुक्तिबोध ने न केवल तुलसी की पुराण मतवादी चेतना और समन्वयवाद की दोहरी व्यवस्था का विरोध किया है बल्कि उसे पुष्ट करने वाले 'पंडित रामचंद्र शुक्ल की वर्णाश्रमधर्मी जातिवाद ग्रस्त सामाजिकता' और 'सच्ची जनवादी सामाजिकता' में सामंजस्य स्थापित करने वाली प्रगतिवादी आलोचना के प्रति अपना आश्चर्य भी प्रकट किया है। इसलिए तुलसी के अंतर्विरोधों पर लीपापोती करने से न तो तुलसी महान हो जाएंगे और न ही अंतर्विरोधों को उजागर करने से उनका कद छोटा हो जाएगा। तुलसीदास मध्यकाल के सबसे बड़े कवि हैं तो केवल रामचरितमानस के कारण ही नहीं बल्कि अपनी उत्तरकालीन रचनाओं— *विनय पत्रिका*, *कवितावली* और *हनुमान बाहुक* के कारण भी जहां उनकी अनुभूति की प्रमाणिकता असंदिग्ध है और वे पौराणिक मतवाद से मुक्त भी हैं। क्या कारण है कि तुलसीदास को वर्णाश्रमधर्मी जातिवाद ग्रस्त सामाजिकता के आरोपों से मुक्त बताने के लिए उद्धरण प्रायः इन्हीं उत्तरकालीन रचनाओं से जुटाए जाते हैं। विशेषतः कवितावली से जहां असुर उत्पीड़न के कल्पित हाहाकार के स्थान पर तुलसी के अपने समय समाज का करुण चीत्कार सुनाई पड़ता है; जहां भूख, अकाल, गरीबी और लाचारी के न जाने कितने कारुणिक चित्र उकरे हैं तुलसीदास ने। अतः उत्तरकालीन काव्य यात्रा में ही तुलसीदास के मध्यकालीन बोध की आधुनिकता भी दिखाई देती है।

सूरदास के *सूरसागर* में चित्रित समाज, *रामचरितमानस* के पौराणिक समाज से बिलकुल भिन्न समाज है। प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में चित्रित कृष्ण का गोचारी जीवन, उन वैदिक आर्यों के स्वच्छंद जीवन की याद दिलाता है जो अपने पशुओं के रेवड़ के साथ सिंधु और गंगा घाटी के मैदानों में उन्मुक्त विचरण किया करते थे। अतः *सूरसागर* में चित्रित समाज चाहे वैदिक समाज की स्मृति (नास्टेल्लिज्या) हो अथवा भावी समाज का स्वप्न (यूटोपिया), दोनों ही स्थितियों में वह मानस के बंद समाज से कहीं ज्यादा खुला हुआ आधुनिक समाज है और कभी-कभी तो स्त्री-पुरुष संबंधों की सामाजिक उन्मुक्तता के कारण उत्तर आधुनिक जैसा भी प्रतीत होता है। इस जनतांत्रिक समाज में न तो पुरुष वर्चस्व की घुटन है और न वर्णाश्रम धर्म के विनाश की चिंता; न शूद्र, पशु, नारी की प्रताड़ना है और न ही किसी स्त्री को अग्निपरीक्षा देने की आवश्यकता। यह एक स्वस्थ और हसमुख समाज है जिसमें जीवन की चहल-पहल है, राम-रंग है और आनंद का उल्लास भी। मीराबाई की तरह लोकलाज और कुल मर्यादा को तार-तार करने वाला विवाहित गोपियों का कृष्ण प्रेम स्त्री-मुक्ति का उद्घोष भी है और तत्कालीन सामंती पुरोहिती समाज-व्यवस्था के लिए कड़ी चुनौती भी। आकस्मिक नहीं है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस उन्मुक्त प्रेम की प्रशंसा करते समय अंग्रेजी के युवा कवि शेली को याद करते हैं -

“सूर के कृष्ण और गोपियां पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक बंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार के स्वच्छंद समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूरदास ने चित्रित किया है।” (*भ्रमर गीत सार*, संपा, रामचंद्र शुक्ल, भूमिका, पृ. 17)

लीला गान की परंपरा लोक-परंपरा है और *सूरसागर* लोक-परंपराओं और लोक-तत्वों का आकार ग्रंथ है जिसमें नटखट गोपाल की बाल लीलाओं से लेकर प्रेमलीला के मधुर मनोरम चित्र भरे पड़े हैं। इसलिए *सूरसागर* के लोकनायक कृष्णलीला पुरुषोत्तम भी हैं तथा कला विलास के लालित्य एवं नाटकीय व्यक्तित्व के कारण शिव की तरह नटनागर भी। लेकिन राम को लोकरक्षक और कृष्ण को लोकरंजक कहना अंतिम सत्य नहीं हो सकता। माना कि सूर के कृष्ण धर्म रक्षा के लिए अवतार लेने वाले कृष्ण नहीं हैं लेकिन लोकरक्षा को धर्मरक्षा का पर्याय माने बिना क्या राम को लोकरक्षक कहा जा सकता है? लोकरक्षा क्या धर्मरक्षा तक ही सीमित है? कहीं इसलिए तो नहीं कि सूर के कृष्ण भी कबीर के राम की तरह धनुर्धर नहीं हैं। लेकिन कबीर ने तो अवतारवाद को स्वीकार ही नहीं किया और धनुर्धर राम को निर्गुण ब्रह्म में रूपांतरित कर भक्ति के क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया, भले ही उसकी निर्गुण भक्ति को परंपरा बाह्य घोषित कर दिया जाए! पर वह कबीर ही क्या जो परंपरा की रूढ़ियों को स्वीकार करता फिरे; आखिर अस्वीकार का अदम्य साहस लेकर जो पैदा हुआ था! पैदाइशी विद्रोही, शायद मध्यकाल का आदि विद्रोही भी। शंकराचार्य का क्रांतिकारी अद्वैत सिद्धांत वर्णवाद का समर्थन करने के कारण कोरा सिद्धांत बनकर रह गया था। उसकी अंतर्विरोधी असंगतियों पर अनेक प्रश्न खड़ा कर सामाजिक जीवन में उसे चरितार्थ करने का श्रेय तो कबीर को ही जाता है। रही बात सूरदास के कृष्ण की तो वे धनुर्धर न सही, वंशीधर तो हैं और *सूरसागर* के स्वच्छंद समाज के अनुकूल बांसुरी की भूमिका ही महत्वपूर्ण है।

अतः यदि धर्मरक्षा को ही लोकरक्षा का पर्याय मान लिया जाए और तुलसीदास के मोह एवं पुराण मतवादी दुराग्रह से मुक्त होकर विचार किया जाए तो रावण का वध करने के कारण जैसे राम लोकरक्षक हैं वैसे ही कंस का वध करने के कारण कृष्ण भी लोकरक्षक हैं। इसी प्रकार रावण के साथी मारीच, खरदूषण और ताड़का का निपात यदि राम को लोकरक्षक बना सकता है तो कंस के साथी-अधासुर, बकासुर और शकटासुर का निपात कृष्ण को लोकरक्षक क्यों नहीं बना सकता? सच बात तो यह है कि आचार्य शुक्ल में वीरपूजा का भाव इतना प्रबल है और वीरधर्म, राजधर्म और क्षात्रधर्म के प्रति इतनी गहरी आस्था है कि न केवल सगुण भक्ति काव्य बल्कि वीर गाथाओं के मूल्यांकन में भी इनकी भूमिका निर्णायक रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ण-धर्म के संरक्षक क्षात्रधर्म

में शुक्ल जी की आस्था उतनी ही अडिग है जितनी मोहभंग के बावजूद रामभक्ति में तुलसीदास की आस्था। आचार्य शुक्ल को सूरदास से यही शिकायत है कि धर्मरक्षा के लिए क्षात्रधर्म के जिस तेजस्वी व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, सूर ने अपने कृष्ण को उस रूप में ढालने का प्रयत्न ही नहीं किया। थोड़ा बहुत जो प्रयत्न मिलता है, वह बाललीला के अंतर्गत आता है, प्रेमलीला से पहले। अब कृष्ण को भी, पता नहीं ऐसी क्या जल्दी थी कि दूध के दांत भी नहीं निकले कि पूतना सहित कागासुर, शकटासुर और तृणावर्त का काम तमाम कर दिया और जब गोचारण के लिए वन जाने लगे तो इसी बीच बकासुर और अघासुर को भी किनारे लगा दिया – बिना किसी शोर-शराबे के; न कोई चीत्कार न हाहाकार! इसीलिए तो देवताओं ने भी कोई 'नोटिस' नहीं ली। जाहिर है कि सूरदास ने कल्पित असुर संहार की पौराणिक घटनाओं को ज्यादा तूल न देकर उसे भी अन्य लीलाओं की तरह बाललीला के अंतर्गत बाल कौतुकी के रूप में ही चित्रित किया है। जब हम जानते हैं कि पौराणिक पुनरुत्थान के सुरसंगत विस्तार में सूरदास की न कोई विशेष रुचि है और न असुरों के निपात चित्रण में उनकी वृत्ति लीन हुई है तो सूर के असुर निपात चित्रण में तुलसीदास जैसा, ओज, उत्साह और उल्लास ढूँढना बेकार है। इसलिए *सूरसागर* में असुरों का अत्याचार यदि आचार्य शुक्ल को 'सभ्य अत्याचार' जान पड़े तो क्या आश्चर्य?

आचार्य शुक्ल के अनुसार कंस और उसके सहायक असुर, रावण और उसके साथी राक्षसों की तरह लोक-उत्पीड़क या लोकशत्रु नहीं हैं। इसका कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है—

“रावण के साथी राक्षसों के समान वे ब्राह्मणों को चबा-चबा कर हड्डियों का ढेर लगाने वाले या स्त्री चुराने वाले नहीं दिखाई पड़ते। उनके कारण वैसा हाहाकार नहीं सुनाई पड़ता। उनका अत्याचार 'सभ्य अत्याचार' जान पड़ता है।” (*भ्रमर गीत सार*, संपा रामचंद्र शुक्ल, भूमिका, पृ.13)

रावण के साथी राक्षसों द्वारा स्त्री चुराए जाने का कोई प्रसंग तो याद नहीं आता— हां, रावण द्वारा सीताहरण की घटना तो सभी जानते हैं, इसलिए रावण को लोक-उत्पीड़क या लोकशत्रु मान लेने में कोई कठिनाई नहीं है लेकिन 'ब्राह्मणों को चबा-चबा कर हड्डियों का ढेर लगाने वाले' रावण के साथी राक्षसों को भी लोक-उत्पीड़क या लोक-शत्रु क्यों मान लिया जाए? जबकि कंस को लोकशत्रु मानने में आचार्य शुक्ल काफी कठिनाई का अनुभव करते हैं। दूसरी बात यह कि रावण के साथियों के अत्याचार के विषय में तुलसीदास ने लिखा कुछ, और शुक्ल जी ने पढ़ा कुछ और। इस संदर्भ में तुलसीदास ने लिखा है—

अस्थि समूह देखिए रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया।

निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुवीर नयन जल छाए।।

(*रामचरितमानस*, अरण्यकांड, दोहा 9)

पुराणों में असुरों के वध को न्यायसंगत ठहराने के लिए उनके अत्याचार को बढ़ा-चढ़ा कर कहने की परंपरा है। तुलसीदास का यह प्रसंग उसी का पुनर्पाठ है। इसके साथ ही *रामचरितमानस* में दलित और स्त्री विरोधी पौराणिक कुपाठों के और भी अनेक पुनर्पाठ मिलते हैं जिन्हें तुलसी का कमजोर पक्ष कहकर टाला नहीं जा सकता। लेकिन यहां पर फिर भी तुलसीदास ने असुरों के असभ्य अत्याचार के प्रमाण रूप में मुनियों के 'अस्थि समूह' के संयमित चित्रण द्वारा राम को असुर संहार के लिए उत्प्रेरित किया है और द्रवीभूत राम पृथ्वी को राक्षसविहीन करने का संकल्प भी करते हैं। लेकिन आचार्य शुक्ल को तुलसी का असभ्य अत्याचार वर्णन कुछ कम असभ्य प्रतीत हुआ इसलिए उसे कुछ और असभ्य बनाने की प्रक्रिया में उन्होंने 'अस्थि समूह' को 'हड्डियों के ढेर' में बदल दिया जिससे कुछ ज्यादा ही क्रूरता का बोध हो सके। मुनि कहने से तो जैन मुनि का भी बोध होता है और ब्राह्मणपंथ से भी मुनि होते ही आए हैं इसलिए आचार्य शुक्ल ने न जाने किस 'डी.एन.ए. टेस्ट' से यह साबित करके ही दम लिया कि यह 'अस्थि

यदि देवता फूल न बरसाते तो प्रलंब और कंस को लोक—उत्पीड़क या लोकशत्रु मानने को शुक्ल जी तैयार न थे। सच तो यह है कि सूरदास देवताओं के उतने मोहताज न थे, उनकी दृष्टि धरती की ओर है आकाश की ओर नहीं। इसीलिए देवताओं की प्रसन्नता की अपेक्षा वह मनुष्यों की प्रसन्नता को और दवलोक की अपेक्षा मानव लोक को ज्यादा महत्व देते हैं। *सूरसागर* में असुर निपात से किंचित भयभीत कृष्ण के दोस्त मित्र फूलमालाओं से अपने लोकनायक का अभिनंदन कर परस्पर हर्षोल्लास मनाते हैं। देवता फूल बरसाएं या न बरसाएं इससे सूरदास को कोई फर्क नहीं पड़ता।

असुर निपात के अवसर पर देवताओं का फूल बरसाना वस्तुतः अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी की पुकार, देवताओं के कान और आंख तथा ईश्वर के धनुषबाण के बीच असुरों के साथ खेले जाने वाले अवतारवादी पौराणिक खेल का एक हिस्सा है जिसमें सूरदास की विशेष दिलचस्पी नहीं है। ईश्वरीय चमत्कार के इस खेल में सूरदास के बाल कृष्ण भी शामिल अवश्य हैं किंतु उनकी बालक्रीड़ा का ईश्वरीय चमत्कार पौराणिक खेल से किंचित भिन्न है। यहां लक्ष्य असुर संहार नहीं बल्कि असुरों के आघात से आत्मरक्षा का संघर्ष है। कृष्ण की आत्मरक्षा ही ब्रज की लोकरक्षा है। वह ब्रजनाथ हैं, ब्रज बल्लभ हैं, ब्रज के प्राण हैं और सब मिलाकर ब्रज की नाभि हैं कृष्ण। कहते हैं कि राम—रावण युद्ध के लगातार खिंचते चले जाने से, अशोक वाटिका में व्याकुल सीता ने जब त्रिजटा से रावण के मारने का उपाय पूछा तो उसने यही बताया कि रावण की नाभि में सीता बसती हैं अतः नाभि पर प्रहार करके ही उसे मारा जा सकता है। इस तरह रावण की नाभि में सीता और सीता के प्राणों में मर्यादा पुरुषोत्तम, सो, रावण का संहार हुआ और सीता का उद्धार भी। लेकिन यहां तो ब्रज की नाभि में लीला पुरुषोत्तम बसते हैं अतः नाभि पर किया जाने वाला हर आघात आत्मघाती सिद्ध होता है। पालने में सोए हुए शिशु कृष्ण तो पूतना, कागासुर और शकटासुर के आघातों से आत्मरक्षा का प्रयत्न करते हैं, अब इस प्रयास में उनका संहार हो जाता है तो इसमें शिशु कृष्ण का क्या दोष? वह तो ईश्वरीय चमत्कार का खेल खेल रहे हैं जिसे ब्रजवासियों सहित नंद और यशोदा जान भी नहीं पाते। उनके लिए तो यह कोई दुर्घटना या दैवी आपदा थी जो टल गई। इसके लिए वे ईश्वर का लाख लाख शुक्रिया अदा करते हैं कि पालने में खेलने वाला उनका प्यारा शिशु, किसी अज्ञात आपदा की चपेट में आने से बाल—बाल बच गया। मां यशोदा लोन—राई से नजर उतार कर शिशु कृष्ण की बलैया लेना नहीं भूलतीं।

गोकुल से आरंभ हुआ आत्मरक्षा का संघर्ष आगे चलकर ब्रज की लोकरक्षा में घनीभूत हो जाता है। वे ब्रह्मा द्वारा चुराई गई नंद घोष की गायों को वापस लाते हैं, दावाग्नि में घिरे ब्रजवासियों को बचाते हैं और इंद्र के कोप से डूबते ब्रज की रक्षा कर ब्रह्मा और इंद्र का गर्व मोचन करते हैं। अतः *सूरसागर* में चित्रित कृष्ण का जीवन संघर्ष सतह से उठते हुए सामान्य मनुष्य का संघर्ष है जो आगे चल कर लोकरक्षा के अपने प्रयत्नों से लोकनायक का गौरव अर्जित करता है। ईश्वर होकर भी कृष्ण *सूरसागर* में एक सामान्य मनुष्य का जीवन जीते हैं। बाल्यावस्था में सामान्य ग्वाल बालों के साथ उसी प्रकार खेलना—कूदना, हंसना—हंसाना, हारना—जीतना, चिढ़ना—चिढ़ाना, माखन चोरी करते रंगे हाथ पकड़े जाने पर तरह—तरह के बहाने बनाना, अपनी गलती दूसरों पर थोप कर साफ—साफ बच निकलना आदि बालक कृष्ण की कतिपय विशिष्टताएं हैं जो उन्हें सामान्य बालकों से थोड़ा अलग करती हैं और इसी के चलते वे साथियों के बीच टोली नायक बन जाते हैं जो लोकनायक बनने का पूर्वाभ्यास जैसा प्रतीत होता है। ब्रज का समाज हंसमुख समाज है तो इसलिए कि वह नारी प्रधान समाज है जो मातृ—सत्तात्मक समाज की याद दिलाता है। कहने को तो नंद कुल परिवार के मुखिया हैं पर हुक्म तो मां यशोदा का ही चलता है। समता और स्वतंत्रता का सम्मान स्त्री प्रधान समाज की विशेषता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां ज्यादा मुखर हैं। कहीं कोई दबी—सहमी स्त्री नहीं दिखाई देती। गोपियां उद्धव की ही नहीं, बल्कि कृष्ण की भी खिंचाई करती हैं, खरी—खोटी सुनाती हैं और कभी—कभी तो बड़ी चुभने वाली बात भी कह जाती हैं — दो टूक और स्पष्ट। अधिकार भरे दर्प का

ऐसा कठोर संवाद क्या किसी ईश्वर के साथ संभव है? राम ने धर्मरक्षा के लिए अवतार लिया था और *रामचरितमानस* में ईश्वर का ही जीवन जिया। जहां कहीं तुलसीदास ने पौराणिक घटना की अपेक्षा लोक-जीवन को अधिक महत्व दिया है वहां राम का व्यक्तित्व कहीं ज्यादा सहज, सामान्य और मानवीय लगता है और ईश्वरत्व की दूरी मिट जाने से वे हमारे अपने ही बीच के लगने लगते हैं। अयोध्या के सामंती परिवेश से बाहर निकलकर दंडकारण्य तक कल-कल बहती रामकथा में विशेष रूप से राम के इस व्यक्तित्व की विशेषताएं देखने को मिलती हैं। लेकिन बीच-बीच में राम के ईश्वरत्व की याद दिलाते रहने से सहज मानवीयता जड़ीभूत हो जाती है। शक्ति बाण से घायल लक्ष्मण के प्रति राम का विलाप भी भाई के प्रति भाई के दुःख और सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति न होकर ईश्वरीय लीला का अभिनय बन जाता है। मानस के श्रोताओं के मन में समय-समय पर राम के मनुष्य होने का संदेह और वक्ताओं द्वारा उनके भ्रम निवारण का प्रयत्न तो चलता ही रहता है। अवतारवाद के पौराणिक दुराग्रह के कारण ही मां कौशल्या को भी जमुहाई के बहाने मुंह खोलकर त्रिलोक दर्शन कराते हुए स्वयं राम अपने त्रिलोकीनाथ होने का अहसास कराते रहते हैं। ईश्वरीय विशिष्टता के सतत अहसास के कारण राम के साथ परिवारीजनों का सहज स्वाभाविक रिश्ता न बनकर एक पूज्य भाव का आदर्श बराबर हावी रहता है।

पौराणिक अवतारवाद का सुसंगत विकास यदि *रामचरितमानस* में हुआ है तो जाहिर है कि असुर उत्पीड़न का लोकव्यापी कल्पित हाहाकार और धर्मरक्षा के प्रयत्नों का विस्तार भी वही देखने को मिलेगा। अकारण नहीं है कि *रामचरितमानस* में कदम-कदम पर पुष्प वृष्टि के मनोरम दृश्य देखने को मिलते हैं लेकिन रावण वध के अवसर पर देवताओं ने दिल खोलकर जितनी पुष्प वृष्टि की है उतनी तो पूरे *रामचरितमानस* में सब मिलाकर भी न हुई होगी। रावण के बड़े लोकशत्रु होने का इससे बड़ा प्रमाणपत्र भला और क्या होगा? अतः सीताहरण के लिए रावण का अपराध अक्षम्य है और सहायकों सहित उसका मृत्युदंड भी न्यायसंगत है लेकिन हजारों की संख्या में स्त्रियों-बच्चों सहित लंकावासियों का क्या दोष? भीषणतम आगजनी की आंतकवादी कार्रवाई अत्याचार की किस कोटि में आती है? सभ्य अत्याचार या असभ्य अत्याचार? खासतौर से तब और विचारणीय है जब यह सभ्य समाज के महानायक मर्यादा पुरुषोत्तम के पक्ष से की गई हो।

अपने समय समाज के उत्पीड़न को अनदेखा कर कल्पित देवासुर संग्राम की स्मृति में खो जाना और पौराणिक उत्पीड़न को अनावश्यक इतना महत्व देना वस्तुतः समाज के वास्तविक तकाजों से जनता का ध्यान हटाकर उसे एक काल्पनिक मायालोक में भटकाना है। क्या राम-रावण का युद्ध और उसका ताना-बाना इतना इकहरा और सपाट है? हजारों साल के इतिहास में परस्पर विरोधी सांस्कृतिक परंपराओं की द्वंद्वत्मक अभिव्यक्ति का प्रतीक है वह संघर्ष। देवासुर संग्राम की तो कार्बन कापी ही है, उसमें आर्य और अनार्य, निगम और आगम, ब्राह्मण और अब्राह्मण, वैष्णव और शैव तथा सगुण की परस्पर विरोधी स्थितियां भी मौजूद हैं। सब मिलाकर देखा जाए तो राम-रावण के प्रतीकात्मक संघर्ष का निहितार्थ वर्चस्व की संस्कृति बनाम प्रतिरोध की संस्कृति का संघर्ष है जिसमें तमाम जातीय-विजातीय परंपराओं की जय-पराजय की स्मृतियां समाहित हैं और ये स्थितियां सपाट और एकतरफा कभी नहीं रहीं। इसलिए यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यथास्थितिवाद को बनाए रखने के लिए दी गई 'नानापुराण निगमागम' की साक्षी किसी समन्वय की विराट चेष्टा है। वर्चस्ववादी संस्कृति की रक्षा और प्रतिरोध की संस्कृति का नकार ही रामकथा का पौराणिक लक्ष्य है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस वर्चस्ववादी संस्कृति के महानायक हैं, और प्रतिरोध की लंबी सांस्कृतिक परंपरा जिसके प्रति घृणा और हिकारत का भाव व्यक्त किया गया है, उसे प्रतिपक्ष के व्यक्तित्व में आरोपित कर दिया गया है। इस प्रकार जब विपक्ष के प्रति घृणा और हिकारत तथा आत्मपक्ष के प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव बद्धमूल कर दिया जाए जो अंधश्रद्धा की ओर ले जाता है और ऐसी स्थिति में अपना पक्ष न्याय का पक्ष और विपक्ष पूरी तरह अन्याय का पक्ष बनकर रह जाता है।

अतः विवेकहीन रूढ़ संस्कारों से न्याय और अन्याय का निर्णय नहीं किया जा सकता। घटनाओं को अपने पक्ष में न्यायसंगत ठहराने के लिए चाहे जितने भी तर्क गढ़ लिए जाएं, सच हमेशा सच ही रहेगा। क्या यह सच नहीं है कि राम ने ताड़का का निपात किया, छिपकर बालि की हत्या की और क्या यह भी सच नहीं है कि झूठ का सहारा लेकर मर्यादा पुरुषोत्तम ने सुपर्णखा को लक्ष्मण के पास जाने के लिए उकसाया? दलीलें चाहे जितनी भी गढ़ ली जाएं, सच यही है कि किसी स्त्री का उत्पीड़न और अपमान पूरी स्त्री जाति का अपमान है; चाहे पक्ष की हो या विपक्ष की। यह सच है कि रावण ने सीता का अपहरण कर घोर अन्याय किया लेकिन यह भी सच है कि उसने सीता को अपने महल से बाहर अशोक वाटिका में स्त्रियों की सुरक्षा के बीच सम्मान के साथ रखा। हां, इतना जरूर है कि अपनी बात मनवाने के लिए और न मानने पर डराने-धमकाने के लिए वहां जाता अवश्य था लेकिन सीता की इच्छा और मान-मर्यादा के विरुद्ध उसने कोई दुराचरण किया हो, ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता। दूसरी बात यह कि उत्पीड़न का हाहाकार सिर्फ हाहाकार होता है, चाहे पक्ष का हो या विपक्ष का। ऐसा नहीं है कि अपने पक्ष का उत्पीड़न तो गगनभेदी और लोकव्यापी हाहाकार पैदा करे और विपक्ष का उत्पीड़न एकदम बेआवाज और फुस्स हो जाए। लंकादहन की घटना से रावण के लोक में भी वैसा ही हाहाकार मचा होगा जैसा मुनियों के उत्पीड़न और सीताहरण की घटना से हमारे लोक में। हम उसे न सुनें या न सुनना चाहें, यह बात दूसरी है।

लंकादहन के हाहाकार की तो खैर बात छोड़िए, रावण द्वारा सीताहरण के उत्पीड़न से होने वाले लोकव्यापी हाहाकार को तो आचार्य शुक्ल सुन लेते हैं और देख भी लेते हैं लेकिन *सूरसागर* में द्रौपदी की हाहाकारी चीत्कार को न सुन पाते हैं न देख पाते हैं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जो लोक सीता (माया की) के उत्पीड़न पर हाहाकार कर उठता है, वही लोक द्रौपदी के चीत्कार के समय अपने कान भी बंद कर लेता है और आंखें भी मूंद लेता है। बहरहाल, लोक देखे या न देखे; सूरदास ने अपनी बंद आंखों से छूकर द्रौपदी की अंतर्व्यथा को देखा, उसके चीत्कार को सुना और मनोभावों में हो रही हलचल को महसूस भी किया –

जितनी लाज गुपालहिं मेरी।

तितनी नाहिं बधू हों जिनकी, अंबर हरत सबन तन हेरी।

पति अति रोष मारि मन हीं मन, भीषम दर्ई बचन बंधि बेरी।।

(*सूरसागर*, पहला खंड, प्रथम स्कंध, पद 252)

किसी स्त्री का हरण एक बात है, किसी का चीरहरण बिल्कुल दूसरी बात। हरण दुखद है पर चीरहरण दुःख की किसी परिभाषा से परे; तब तो और भी जब वह भरी सभा के बीच पांचों पतियों सहित तमाम पुरुषों-महापुरुषों की उपस्थिति में किया जा रहा हो। यह तो किसी एकांतिक बलात्कार से भी ज्यादा मर्मांतक ऐसा सामाजिक बलात्कार है जो असहनीय भी है और अनिर्वचनीय भी। इसकी कोई पुरुष व्याख्या तो संभव नहीं, कोई स्त्री व्याख्या भी शायद ही उतनी प्रामाणिक हो। कहीं अनुभूति की भी कोई व्याख्या होती है? और वह अनुभूति तो सार्वजनिक रूप से निर्वस्त्र की जा रही कोई द्रौपदी ही कर सकती है। सूरदास उसका अनुभव कर सके तो इसलिए कि वह स्त्री की मान-मर्यादा और उसकी स्वतंत्रता का सम्मान करना जानते थे। इसलिए वह द्रौपदी की पीड़ा को पढ़ भी सके और लिखकर दिखा भी सके।

द्रौपदी ने बड़ी कातर दृष्टि से सबकी ओर निहारा और पाया कि सभी उसका उघरता शरीर देख रहे हैं। निर्वस्त्र करने वालों का निर्लज्ज अट्टहास तो पूरे बदन को क्षत-विक्षत कर ही रहा है। लज्जा और ग्लानि से भरी द्रौपदी ने जुए के दांव पर 'ज्यों गथ हारे थकित जुवारी' पांचों पतियों की आंखों में भी झांका, पर वहां आंख मिला सकने

19. साखी (कबीर वाङ्मय, खंड 3) संपा, डॉ. जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह 'कथनी बिना करनी को अंग' साखी 4
20. बीजक (कबीर) शब्द 84
21. वही, शब्द 47
22. वही, रमैनी 1
23. रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा 86
24. वही
25. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ. 111
26. रामचरितमानस, अयोध्याकांड, दोहा 243
27. वही, दोहा 194
28. वही, अरण्यकांड, दोहा 34
29. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ. 111
30. वही
31. रामचरितमानस, उत्तरकांड, दोहा 98क
32. घनानंद कवित्त, वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, सोरठा 22

Hkkj rh; nfyf dfork % l`tu vksj l jksdkj

& i ks foey Fkkjkr

स्वतंत्रता मनुष्य की चेतना में बसी हुए एक सहज प्रवृत्ति है, इसे छीनने या दबाने की कोशिश करने पर स्वभावतः यह प्रबल रूप लेकर मुक्ति का मार्ग खोज लेती है। आधुनिक काल में मुक्ति के ऐसे संघर्षों में भारत का स्वतंत्रता संग्राम और अफ्रीका का रंगभेद विरोधी संघर्ष इसका लोमहर्षक इतिहास है। जिसने गुलामी को झेला हो वही आजाद होने का अर्थ भी समझ सकते हैं। आजादी का हर वर्ष जश्न मनाने वाले आसानी से भूल जाते हैं कि इसी भारतवर्ष में सदियों पुरानी चातुर्वर्ण्य की मान्यता पर बनी समाज व्यवस्था जीवित है और उसने पंचम वर्ण के रूप में अस्पृश्य की निर्मिति केवल चार वर्णों के लाभ और सुविधा को ध्यान में रखकर की थी। तीन हजार वर्ष पूर्व लिखे गए 'मनुस्मृति' नामक ग्रंथ में चार वर्णों के कार्य, उनके आपसी संबंध, बंदिशों और अस्पृश्य के लिए विधि-विधान का निर्धारण कर उसे अपवित्र, अवर्ण बनाकर सबसे नीचे रखा। मानवता को लज्जित करने वाली यह अमानवीय परंपरा आज के स्वतंत्र इक्कीसवीं सदी के भारत में आधुनिक कहे जाने वाले समाज में अपने उसी घृणित रूप में कायम है। यह मानवता पर ही नहीं देश की स्वतंत्रता पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है। संविधान ने इस देश को स्वतंत्र गणतंत्र का रूतबा देकर वंश, जाति, धर्म, भाषा, प्रांत और लिंग आधारित भेदभाव जैसी पुरातन ब्राह्मणवादी परंपराओं को तिलांजली दी और सभी को समान नागरिकता का अधिकार दिया। समता, स्वतंत्रता, भाईचारा और न्याय जैसे मूल्यों की रक्षा के लिए राज्यों का निर्माण किया गया। प्रत्येक नागरिक की सुरक्षा और विकास के लिए राज्य को जिम्मेदारी सौंपी गई। देश के संविधान निर्माता डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की दूरदृष्टि ही थी कि अस्पृश्यता निवारण कानून द्वारा अछूतों की सुरक्षा के प्रावधान किए गए। उन्होंने अपनी 'जातिप्रथा-उन्मूलन' नामक पुस्तक में जातिप्रथा की क्रूरता के बारे में लिखा है "चातुर्वर्ण्य की इस अधम व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के निम्न वर्ग सीधी कार्रवाई करने में पूर्णतः अशक्त बन गए हैं। वे हथियार धारण नहीं कर सकते थे, और बिना हथियारों के वे विद्रोह नहीं कर सकते थे। वे सभी हलवाहे थे या हलवाहे बना दिए गए थे। और उन्हें हलों को तलवारों में बदलने को कभी भी अनुमति नहीं दी गई। उनके पास संगीने नहीं थीं इसलिए कोई भी व्यक्ति उन पर प्रभुत्व जमा लेता। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। वे अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सोच सके या ज्ञात कर सके। उन्हें सदैव दबाकर रखा गया, उन्हें अपने छुटकारे का न तो रास्ता मालूम था और न ही उनके पास साधन थे। उन्होंने अनंत दासता से समझौता कर लिया और ऐसी नियति पर संतोष कर लिया, जिससे उन्हें कभी छुटकारा नहीं मिल सकता था।"

वर्ण-जाति व्यवस्था की ही क्रूरता का परिणाम है कि तीन हजार से अधिक समय तक अछूत इस व्यवस्था में उत्पीड़न के शिकार हुए, बहिष्कृत बस्तियों में रहने की अपमानजनक त्रासदी को आज तक झेल रहे हैं।

दलित वर्ग के पास यातना और वेदना के अनुभवों का उफनता हुआ समुंदर है। जीवन के किनारे को छूती हुई पीड़ा की एक दर्दभरी कहानी है। इस विशिष्ट त्रासद अनुभवों की अभिव्यक्ति ने मानव जीवन के छिपे हुए सत्य को उजागर कर दिया। सृजन के क्षेत्र में पहली बार इस विशिष्ट अनुभव की अभिव्यक्ति से उजागर हुए समाज व्यवस्था के इस सत्य को कोई नकार नहीं सका और न ही रोक सका। मराठी तथा अन्य भाषाओं में भी इस अनोखी अनुभूति की अभिव्यक्ति से लेखन का क्षेत्र चकित था। उन्हें दर्द का यह उफनता समुंदर कभी नज़र नहीं आया, यह उनकी संकुचित दृष्टि ही थी। विजय तेंडुलकर जैसे समर्थ नाटककार ने इसे अपनी भूल मानते हुए स्वीकार किया था "मेरी अपनी दुनिया से केवल कुछ कदमों पर यातनाओं से जर्जर दुनियाँ बसी है, इसे मैं जान ही न पाया। मेरी दृष्टि ही संकुचित थी और अभिजात्य अहं भी था। नामदेव ढसाल की कविता ने इस दूसरी दुनिया को देखने समझने का

अहसास मुझमें जगाया।” लेकिन हिन्दी में अभी तक भी साहित्यिक आलोचना के अभिजात्य क्षेत्र से दलित साहित्य बहिष्कृत ही रहा। आलोचना के एकछत्री साम्राज्य के कुटील सामंतवादी आलोचक साहित्य की विशिष्ट धारा के रूप में मान्य, दलित चेतना साहित्य को नकारकर जाति के सवाल को एक ‘घिसा-पिटा मुद्दा’ मानते हैं। वामपंथ भी पिछले सत्तर वर्ष से भी अधिक समय में देश के दलित वंचित और गरीबों की गरीबी का मूल कारण वर्गवादी सिद्धान्त के तहत मानते रहे। वे इसी बहस में उलझे रहे कि जाति अधिरचना है, अथवा व्यवस्था से नियंत्रित सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था का आधार है। वे इसे न समझने का नाटक ही करते आए। जाति की सच्चाई को नकारकर अहंत्तुष्टि और सुपरबुद्धिजीवी होने के भ्रम में बूढ़ी हो चुकी वाम विचारधारा अभी तक जातीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाई। दलित चेतना के साहित्य ने ऐसे सामंतवादी और जातिवादी अहं की अपनी रचनात्मकता से जवाब देकर नेस्तनाबूद कर दिया है। सदियों से उपेक्षित वर्ग के भीतर जगे आत्मबोध का यह साहित्यिक आविष्कार था। जिसकी पृष्ठ भूमि बहुत पहले तैयार से तैयार हो चुकी थी।

दलित विचारकों, चिंतकों और लेखकों को संबोधित करते हुए डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने कहा था –

“हमारे देश में उपेक्षितों और दलितों की बहुत बड़ी दुनिया है। इसे भूलना नहीं चाहिए। उनके दुःखों को उनकी व्यथाओं को पहचानना जरूरी है और अपने साहित्य के द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी में सच्ची मानवता है।”

डॉ. आंबेडकर ने दलित चिंतकों, लेखकों को लेखकीय कर्तव्य के प्रति न केवल सचेत किया बल्कि शोषण मूलक संस्थाओं को समूल उखाड़ने का आवाहन भी किया।

संघर्ष, विद्रोह और नकार ने सृजन की भूमि तैयार की और इस सृजित दलित साहित्य के दो लक्ष्य थे। दलित-वंचितों की व्यथा, पीड़ा, यातनाजनित अनुभवों की अभिव्यक्ति और सोपानीकृत समाज व्यवस्था को बदलने के लिए धर्मसंस्थाओं का विरोध तथा परंपराओं से विद्रोह। युवा कवि, लेखकों द्वारा स्वीकार की गई प्रतिबद्धता ही दलित लेखन की क्रान्तिकारी भूमिका होगी। यह सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव के लिए चुनौती भरा आवाहन था, जिसने थोड़े ही समय में आंदोलन का रूप ले लिया। सामाजिक न्याय के लिए दलित वर्ग को स्वयं ही यह निर्णय लेना था और चातुर्वर्ण्यव्यवस्था द्वारा निर्मित अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था और ब्राह्मणवादी मानसिकता को बदलना था। न्याय और समतावादी जनतांत्रिक समाजवाद की स्थापना का क्रान्तिकारी दलित युवा लेखकों का सपना था। अभिजात्यों की यथास्थितिवादी मानसिकता को बदले बिना यह संभव नहीं है। वे यह भी जान चुके थे कि अभिजात्य साहित्य में दलित जीवन की सच्चाई की अभिव्यक्ति ढूंढने से भी नहीं मिलती वह किसी भी प्रकार से दलितों वंचितों का साहित्य नहीं हो सकता। दलित जीवनानुभूति का परिवर्तनवादी स्वर इसीलिए नृशंस व्यवस्था के विरोध में अस्तित्व में आया। दलित साहित्य ने कलावादी मूल्यों को तोड़ कर नये जीवनवादी मूल्यों को स्वीकारा साहित्य कला की यथास्थितिवादी कसौटियों में छिपे अभिजात्यों के अहं को दलित लेखक समझ चुके थे। ज्ञान की परंपराओं से हजारों वर्षों तक दूर रखे गए दलित वंचितों को मध्यवर्गीय भाषा और सौंदर्य शास्त्रीय आडंबर आकर्षित न कर सके। नए आलोक से मिली दृष्टि से अब उसकी कोशिश शुरू हुई कि कैसे समता, स्वतंत्रता और न्याय पर आधारित समाज में बहुजन को सम्मान और अधिकार मिलेगा। इसलिए जाति द्वेष और तिरस्कार को जन्म देने वाली व्यवस्था के निर्मूलन के लिए प्रतिबद्धता का संकेत भी दे रहा है—

मेरे रक्त में/असंख्य सूर्यबिंब जन्म ले चुके/

कब तक सहेंगे घोर बंदिवास/क्यों बने रहेंगे युद्धबंदी?

हक़्क़रह; नफ़्फ़र / क़्फ़्फ़र; %फ़्फ़्फ़ुक

वह देखो मेरी अस्मिता आकाशा तक फैल गई /
मैं भी जिंदाबाद की घोषणा करूंगा /
क्योंकि मेरे रक्त में असंख्य सूर्य जन्म ले चुके /
जो इस शहर-शहर में चिंगारी भी देंगे।

— नामदेव ढसाल

दलित रचनाकारों की रचनाओं में आजादी का अहसास, अभिव्यक्ति का दायरा साहित्य तक सीमित नहीं रहा, अब तो राजनीतिक भागीदारी के सपनों को साकार करने की चाहत में फैल चुकी है। मराठी दलित साहित्य से निर्मित आत्मबोध की चेतना अब आकाशभर में फैल चुकी है। दलित साहित्य का आंदोलन अब भारतीय दलित साहित्य आंदोलन का रूप ले चुका है। आज हमें हिन्दी के अलावा मराठी, तेलुगू, कन्नड, तमिल, पंजाबी, उड़िया, बंगला, असमी, कोकणी, भोजपुरी और मलयालम भाषाओं में दलित साहित्य का अस्तित्व दिखाई दे रहा है। डॉ. आंबेडकर दर्शन से आई आत्मसजगता के जरिए दलित लेखक अब क्रांतिधर्मी साहित्य का सृजनकर्ता है, जो ब्राह्मणवाद के विरुद्ध है—

उदास हूँ कि कैसे पहनी सदियों तक बेड़ियाँ
हाथियों का झुंड फँसा हो दलदल में
वैसी फंसी रही आशाएं और मंजिले
पत्थर तले दबे थे हाथ मगर रूदन नहीं
कितने जन्मों से सहा बंदिवास
किसने रचा था यह षडयंत्र।

—दया पवार

सदियों से गांव सिवान से दूर रखी गई दलित बस्तियाँ जाग रही हैं। बाहरी दुनिया के साथ-साथ बस्ती में फैले घोर अज्ञान गरीबी और रूढ़ी परंपराओं की गुलामी से भी उन्हें संघर्ष करना है। इसलिए संघर्ष की भाषा कोमल, दयनीय अथवा शालीन नहीं हो सकती। प्रस्थापित व्यवस्था के विरोध में उठी आवाज में विद्रोह, संताप और अंगार ही होगा। अब हिन्दी या अन्य किसी भाषा के सनातनी आलोचक यह कहते हुए संकोच करेंगे कि साहित्य के मानदंडों पर दलित रचनाओं को खरा उतरना ही होगा, तब ही वह साहित्यिक रचनाओं का रूतबा पा सकेगी।

मुक्ति की आस में विद्रोह करने वाले मुक्तिकामी लेखक क्यों कर जातिश्रेष्ठता के जड़वादियों की शर्तें मंजूर करे, सदियों से समता, न्याय, स्वाधीनता और सम्मान के लिए जातिप्रथा की बंदिशों को खत्म करने की राह वे चल पड़े हैं। कवि सजगता का संकेत इन तीखें शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

मत भूलो कि अब
मेहनतकश कन्धे
तुम्हारा बोझ ढोने को
तैयार नहीं हैं
बिल्कुल तैयार नहीं हैं।
देखो!

बन्द किले से बाहर
झाँ कर तो देखो
बरफ पिघल रही है।
बछेड़े मार रहे हैं फुरी
बैल धूप चबा रहे हैं
और एकलब्य
पुराने जंग लगे तीरो को
आग में तपा रहा है।

—मलखान सिंह

दलित कवि का यह तेवर संघर्ष के अलाव में पककर आता है, वह जानता है कि अब तक की सहनशीलता और कर्मसिद्धान्त के झूठ से भयभीत दलित वर्ग को दास्यत्व से मुक्ति तब तक नहीं मिल सकती जब तक वह स्थापित मूल्यों से सीधे नहीं टकराता। बाबा साहेब ने कहा था “गुलाम को जब यह अहसास होगा कि वह गुलाम है तो उन बेड़ियों को खुद ही काटकर फेंकेगा।”

पंजाबी के एक सशक्त हस्ताक्षर मदनवीरा ने गुलामी का वह दर्दनाक अहसास और मुक्ति की आकांक्षा की ताकत को घोड़े की प्रतीकात्मक शक्ति के रूप में दर्शाया है—

घोड़े के पास। सिर्फ हाँ में हिलाने के लिए सिर है
नर्म पीठ है
और दिशाहीन दौड़ के लिए चार टांगे हैं
वह दौड़ता है सवार के हुक्म पर
रुकता है सवार की मर्जी पर
हिनहिनाता है सवार के इशारे पर
बैठता है, कान उठाता है, आंखें खोलता है — सवार की हुंकार पर
घोड़ा नहीं जानता कि वह पैरों से खोद सकता है धरा
दुलत्तियों से तोड़ सकता है सवार का चेहरा.....

सामाजिक न्याय और अधिकार के लिए संघर्षरत दलित साहित्य के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर और चिंतक दया पवार की कविता में अस्पृश्यता के यातना की जो सघन पीड़ा अभिव्यक्त होती है वह इस विषम समाज व्यवस्था की पाशविकता को सरेआम बेपर्द करती है—

खांडव वन जलाने वाले परंपरागत हाथ
आज भी निपुणता से रचते हैं अग्निकांड
देखो रे देखो
आग की लपटों ने आकाश घेर लिया
जंगली हिंसक श्वानों की लपलपाती जिह्वाएं जैसी

हक़्क़रह; नफ़्फ़र / क़्क़र; %फ़्फ़ुक

बयालीस इन्सानों की रची चिंता
चारे की तरह/रखा एक के ऊपर एक
लगाया पलीता आत्मतृप्ति के लिए
जैसे चढ़ाए हों बली यज्ञवेदी पर
नन्हें बालकों को आग में फेंकते
शर्मायी नहीं आँखें और नहीं झुकी पलकें
कपूर की तरह जले वे इन्सान बयालीस
और उनकी एक आह तक नहीं।

— दया पवार

बेलछी में बयालीस दलितों को आग में झोंककर सवर्णों ने अपनी अहं की तुष्टि कर ली थी। दलित ने मजदूरी बढ़ाने की माँग की जो कुरमी जाति के लिए असहनीय बात थी, दलितों को बोलने का हक बिहार के भूमि मालिक बर्दाशत न कर सके। यह थी अपनी हैसियत से ऊपर उठकर बोलने की सजा। मनुस्मृति में दर्ज सजाओं को अंजाम आधुनिक समय के नृशंस जमीन मालिक ने दिया था। जाति की हदें पार करने की जुर्रत करने वाले दलित जिंदा जलकर राख की ढेरी में बदल गए थे। जनतांत्रिक देश में हिंदू धर्मशास्त्रों का ऐसा आतंक जो हमारे देश के जनतांत्रिक होने की मान्यता को ही झुठलाता है। जिस देश के संविधान का प्रीअंबल यह कहता हो कि "यह देश समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुभाव जैसे मूल्यों को महत्वपूर्ण मानता है। तो असमता, भेदभाव और दमन का अधिकार अपने आप तय करने वाली व्यवस्था और जाति के वर्चस्व को कौन तोड़ेगा और कैसे? लेकिन हमें विश्वास करना होगा कि अब दलित लेखक गुलामी की जंजीरों को तोड़कर आंबेडकर की चाहत का समाज बनाने का संकल्प कर चुके हैं। उनकी कलम दुष्ट गुरु द्रोणाचार्य के आगे झुकने से इन्कार करती है।

काट लिए थे एकलव्यों के अंगूठे जो
पूरी ताकत से उग आए
ऐ क्रांति के महानायक
स्वागत में तुम्हारे
आसमान की तरफ उठे हाथ
और जयघोष से भर उठा दिगत।

— दया पवार

बुद्ध के करुणा, प्रेम और शांति के दर्शन को अपनाकर दलित वर्ग ने अपने को समता के नए मार्ग पर चलते हुए पाया। वह सहिष्णुता और बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय का समतावादी मार्ग है। लेकिन जिस विकराल नृशंस जातिव्यवस्था से संघर्ष करना हो तो उसके साथ उन्हें युद्ध तक करना मंजूर है। लेकिन इस द्विधा स्थिति में तथागत बुद्ध से कवि क्षमा की याचना करते हुए कहता है —

हे सिद्धार्थ
तुमने, साक्षात् मृत्युसमान अंगुलिमाल
को अपने सामर्थ्य के आगे झुका दिया

हम आप के अदने से अनुयायी
इस विकराल अंगुलिमाल से लड़ते हुए
गर युद्ध कर बैठे तो हे सिद्धार्थ
हमें क्षमा करना।

—दया पवार

दलित कविता में ऐतिहासिक और पैरागिक पात्रों के साथ उनके मिथकों का प्रयोग युगीन सत्य की अभिव्यक्ति के लिए किया गया। शंबूक, एकलव्य, वाल्मीकि, व्यास, चार्वाक, कर्ण जैसे पात्रों की चारित्रिक विशेषता और क्रांति धर्मिता को युगीन संदर्भ से महत्वपूर्ण मानकर परंपरागत मूल्यों के विरोध के लिए उपयुक्त माना। दलित कवियों ने परंपरागत मिथकों को नकारकर अन्य मिथकों का उपयोग किया जो उनके लिए प्रासंगिक थे। ऐसे पात्र जो शोषण के शिकार बने थे, आज के शोषित दलितों के साथ एकाकार हो जाते हैं। मिथक और यथार्थ के गहरे संबंधों को मराठी के अलावा अन्य भाषायी दलित कवियों ने नया आयाम दिया—

मेरे वक्त के एकलव्य।
किसी द्रोणाचार्य के षड्यंत्र में फंसकर।
अपना अंगूठा नहीं देंगे।
क्योंकि उन्हें अर्जुन के गांडिव से निकले तीरों को तोड़ फेंकना है।

— दिलीप कठेरिया

दलित रनाकारों ने रचनात्मक धरातल पर अनेक प्रयोग किए, जिसे हम देख सकते हैं आज के ऐतिहासिक सत्य को कल्पना के द्वारा एक नए नियम में बदल देगा। जो आने वाली सदियों का आदर्श बने दलित वर्ग के मन में डॉ. आंबेडकर की प्रतिमा एक नेता, प्रणेता और दलित समाज के उद्धारक की है। इस प्रतिमा को दलित कवि एक नये मिथक के रूप में इस्तेमाल करते हैं। रा.ग. जाधव ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'नीले पहाड़' में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है। "इन कविताओं में अपने समय के इतिहास को प्रेरक पुराण कथाएं बनते हुए देख सकते हैं, जिसमें दलित समूह मन अपनी स्मृति को चिरंतन रूप देने का प्रयत्न करती है। यहां इतिहास के मूर्त रूप को दलित कल्पनाशक्ति अमूर्त रूप देकर चिरजीव बनाने में प्रयत्नशील है। प्रकृति और मानव जीवन के सत्य अगर मिथक में कल्पनाशक्ति के प्रेरक रूप में बिंबित होते हों और वे सत्य मिथक के रूप में अंकित और स्वीकृत हो जाते हों तो मिथ की यही निर्मित प्रक्रिया दलित कवियों की डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर पर लिखी कविताओं में दिखाई देती है।"

नामदेव ढसाल की कविता में इस अनोखे प्रयोग को सफलतापूर्वक देख सकते हैं—

जो जाता है स्वतंत्रता से स्वतंत्रता की ओर
वह तू एक अकेला हमारे रथ का सारथी
जो दिग्विजयी तन्द्रा से उतरता है हम में।
औ खेतों में भीड़ में मोर्च में औ
लड़ाई में रहता है संग संग।

फिर से इतिहास नया रच डालें
वह होगा, नयी चेतना पर आधारित
नहीं होगी जिसमें कुंठित कथाएँ सामाजिक
सबके हित में, सभी बातें होगी प्रामाणिक
विद्रोहिणी बन चीखती हूँ
गूँजती है आवाज सब दिशाओं में
मुझे अनन्त असीम दिगन्त चाहिए
छत का खुला आसमान नहीं।

—सुशीला टाकभौरें

दलित कविता केवल कविता नहीं है, वह सदियों पुरानी विषमतामूलक सनातनी परंपराओं को दफन करने की एक विचारधारात्मक कार्रवाई है। चेतनागर्भ यह मानव अधिकारों का संघर्ष उस अमानुषिक व्यवस्था के विरुद्ध किया जा रहा जो मानव गरिमा को गिराकर परजीवी संस्कृति का निर्माता है। यह एक ऐसा हथियार है जिसे पाकर दलित वर्ग स्वाधीनता की उम्मीद करता है—

हत्याओं से लेकर/कातिलाना हमलों के बीच
आबरू उतारने से लेकर/अंगभंग करने के बीच
गांवों और मंदिरों से खदेड़ने के बीच
कलम मुझे चीखकर पूछती है। क्या कर रहे हो
कवि! कविता क्या हथियार नहीं बन सकती।

—सतनाम सिंह

दलित लेखन ने केवल वर्चस्ववादी सनातनी चिन्तन एवं साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण ही नहीं किया बल्कि अवसरवादी दलित लेखकों, चिन्तकों के अम्बेडकरवाद विरोधी मंसूबों को भी समय-समय पर बेनकाब किया। दलित लेखन ने यह निर्धारित किया कि बुद्ध, फुले, एवं बाबा साहेब के दर्शन विरोधी, खण्डन विरोधी लेखन को दलित लेखन के दायरे में नहीं माना जाएगा। दलित लेखन की मान्यता के लिए बुद्ध, फुले, अम्बेडकर की वैचारिकी को मानकर चलने वाला लेखन ही दलित साहित्य के दायरे के भीतर माना जाना चाहिए। लेखन में इनके प्रति सम्मान का भाव होना चाहिए। दलित साहित्य एवं वैचारिकी की किन्हीं बातों से असहमति होना नकारात्मक नहीं है लेकिन इनका विरोध करना प्रतिक्रियावादी एवं दलित लेखन, आंदोलन विरोधी कार्य माना जाना चाहिए। दलित लेखन एवं आंदोलन ऐसे उन सभी प्रतिक्रियावादी दलित, स्त्री विरोधी वैचारिकी एवं लेखकों का विरोध करता है और उन्हें दलित चिन्तक एवं साहित्यकार के दायरे से बाहर मानकर चलता है। बात बहुत सीधी सी है, बुद्ध, फुले, अम्बेडकर की वैचारिकी का विरोधी समस्त दलित आंदोलन का विरोधी है।

दलित लेखन व्यापक परिवर्तनकारी उद्देश्यों को लेकर चल रहा है। दलित लेखन जहां एक और समाज में सकारात्मक परिवर्तन करके समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहता है वहीं वह वर्चस्ववादी उत्पीड़नकारी संस्कृति और मूल्यव्यवस्था को भी समाप्त करना चाहता है। वहीं वह वर्चस्ववादी उत्पीड़नकारी संस्कृति और

Hkkjrh; nfyf I kfgR; %foopuk

मूल्यव्यवस्था को भी समाप्त करना चाहता है। यह एक ऐसे समाज की संकल्पना का पक्षधर है जिसमें कोई किसी का शोषण न करे। किसी विशेष जाति को ही 'योग्यता' का आधार न माना जाए। जाति, वर्ग, लिंग, रंग, और धर्म के आधार पर कोई भेदभाव न हो। इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति हेतु दलित साहित्य एवं लेखन निरंतर प्रयासरत है।

मेरे हाथ में शक्ति रूपी हरा जंगल
पल्लवित हो रहा है
चेतना रूपी बसंत में
या कि सत्य का सूर्य
कंकालों के आतनाद से
उतर रहा है धीरे से।

— विचित्रानंद नायक

अतः भारतीय दलित कविता की भीतरी बुनावट में वैचारिक और प्रतिरोधात्मक एकता का स्वर मौजूद है।

nfyr foe'kz dk vFkZ vkj vFkbUkk

&doy Hkkjrh

दलित विमर्श क्या है? इसकी अर्थवत्ता क्या है? इसे मैं कबीर के एक पद से आपको समझाने की कोशिश करता हूँ। यह पद है—

गर्भ बास महि कुल नहि जाती ।

ब्रह्म बिंदु ते सब उतपाती ।।

जौ तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया ।

तौ आन बाट काहे नहिं आया ।

तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद्र ।

हम कत लोहू तुम कत दूध ।।

कहु कबीर जो ब्रह्म विचारै ।

सो ब्राह्मण कहियत है हमारे ।।

इस पद से हम सीधे विषय में प्रवेश करते हैं। कबीर का यह पद सीधे-सीधे ब्राह्मण को संबोधित है। इस पद को समझाने से पहले यह बता दिया जाय कि यहां कबीर और ब्राह्मण दो अलग-अलग विचार के रूप में आते हैं। जिस तरह दो कौमों (राष्ट्रों) और नस्लों में सामाजिक अलगाव होता है, उसी तरह का सामाजिक अलगाव दलित और ब्राह्मण के बीच है। पर वास्तव में दलित और ब्राह्मण न तो दो अलग-अलग राष्ट्र हैं न दो अलग-अलग नस्लें। ये अलग-अलग वर्ण और जातियां हैं। और, यह हम आगे देखेंगे कि ये दोनों एक ही नस्ल के हैं। इसलिए दोनों के बीच जो सामाजिक अलगाव है, जो ऊँच-नीच का भेदभाव है, उसका कोई तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह पूरी तरह से अमानवीय व्यवस्था है, जो ब्राह्मण ने धर्म के आधार पर खड़ी की है। ब्राह्मण ने इसे धर्म-संहिता का रूप दिया। इस धर्म-संहिता में, जो वर्ण व्यवस्था के नाम से प्रचलित है, ब्राह्मण सर्वोपरि है, दूसरे स्थान पर क्षत्रिय है और तीसरे स्थान पर वैश्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज कहा जाता है। द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म। यह दूसरा जन्म 'उपनयन संस्कार' को कहा गया है। उपनयन संस्कार, अर्थात् जनेऊ संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का होता है। इसी उपनयन अर्थात् दूसरे जन्म के कारण उन्हें द्विज कहा जाता है।

चौथे स्थान पर अर्थात् निम्न अवस्था में शूद्र आते हैं। इनका उपनयन संस्कार नहीं होता। इसलिए ये दूसरे जन्म से वंचित हैं। वर्णव्यवस्था में इनका कार्य और मुख्य धर्म द्विजों की ही सेवा करना है। पढ़ना-लिखना, स्वतंत्र होकर व्यवसाय करना, धन अर्जित करना और शस्त्र धारण करना इनके लिए प्रतिबंधित है।

इस प्रकार संस्कार से द्विज उच्च और जन्म से शूद्र नीच की अवधारणा (जन्मना जायते शूद्र संस्कारात् जायते, द्विज उच्चते) ने जाति-व्यवस्था का निर्माण किया। पहले उपनयन-संस्कार का कार्य गुरु के अधीन था। गुरु बालक की परीक्षा कर उसका वर्ण निर्धारण करता था। पर, मनु ने इस व्यवस्था को उलट दिया। उसने उपनयन करने का अधिकार गुरु से छीन कर बालक के पिता को दे दिया। तब से पिता स्वयं बालक का वर्ण निर्धारण करने लगा। इसी समय से इस व्यवस्था में गुण-कर्म महत्वहीन और जन्म महत्वपूर्ण हो गया।

llkjrhl; nfyf l kfgR; %foopuk

अब आप कबीर के पद को समझ सके हैं, जो इसी जन्मना व्यवस्था के विरुद्ध है। कबीर कहते हैं, यदि ईश्वर से ही सब पैदा हुए हैं, तो गर्भवास में न कोई जाति होती है और न कुल होता है। एक दूसरे तर्क से कबीर कहते हैं कि यदि मां की जाति से गर्भवास में पलने वाले की भी जाति तय हो जाती है, तो जन्म की प्रक्रिया एक—सी क्यों है? यदि ब्राह्मण यह मानता है कि वह ब्राह्मणी के पेट से पैदा हुआ है, तो वह किसी भिन्न प्रक्रिया अर्थात् किसी दूसरे रास्ते से पैदा क्यों नहीं हुआ? किंतु जब सारे मनुष्य एक ही प्रक्रिया से पैदा होते हैं, तो कबीर पूछते हैं कि फिर तुम ब्राह्मण कैसे हो गए और हम शूद्र कैसे हो गए? जन्म से कोई ब्राह्मण—शूद्र नहीं है, क्योंकि सबके जन्म की एक ही प्रक्रिया है। यदि दूसरे जन्म यानी उपनयन संस्कार से तुम ब्राह्मण हो तो यह दूसरा जन्म हमारा क्यों नहीं हुआ? अर्थात् उपनयन संस्कार से हम क्यों नहीं ब्राह्मण हो सकते? यहां कबीर के एक अन्य पद का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। वह पद ब्राह्मण—स्त्री के बारे में है। कबीर कहते हैं कि तुम तो जनेऊ पहिन कर ब्राह्मण हो गए। पर तुमने अपनी स्त्री को तो जनेऊ नहीं पहिनाया, उसका तो तुमने उपनयन संस्कार नहीं किया, वह तो द्विज नहीं हुई, वह शूद्र ही है। फिर उसके हाथ का बना भोजन क्यों करते हो? कबीर का यह पद इस प्रकार है — ‘पहिरि जनेऊ जो ब्राह्मण होना मेहरि क्या पहिराया। वह तो जनम की सूद्रिन परसै तुम पांडे क्यों खाया।’ इसलिए, जब सब कुछ समान है, तो कबीर कहते हैं कि हमारे शरीर में खून और तुम्हारे शरीर में दूध कैसे हो सकता है? और, अंत में कबीर बड़ी क्रांतिकारी बात करते हैं कि ब्राह्मण न जन्म से होता है और न जनेऊ से होता है। ब्राह्मण तो वह है, जिसमें ब्रह्म है।

ब्रह्म को लेकर कबीर के यहां कोई भ्रम नहीं है। वहां चित्त की शुद्धि और ‘आत्म राम’ ही ब्रह्म है। दूसरे शब्दों में, मानव की प्रतिष्ठा कबीर का अभीष्ट है और यही दलित विमर्श का अर्थ है।

nfyf foe'kz dlh vFkbÜkk

इससे एक बात यह साफ हो जाती है कि दलित विमर्श सिर्फ एक जाति का विमर्श नहीं है, जैसी कि आम धारणा है कि किसी दलित समस्या को लेकर किया गया विमर्श ही दलित विमर्श है। यह धारणा गलत है। दलित विमर्श के केंद्र में दलित समस्या को नहीं नकारा जा सकता। पर यह समस्या एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में है। इसके केंद्र में दलित मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न है। करोड़ों लोगों के लिए अलगाववाद का जो समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र ब्राह्मणों ने निर्मित किया, उसे राष्ट्रीयता को खंडित किया था और उसी के कारण भारत अपनी स्वाधीनता खो बैठा था।

इसलिए दलित विमर्श के केंद्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से है, चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या फिर धर्म के ही आधार पर क्यों न हो।

देखने में यह सवाल साधारण—सा लगता है, पर यह साधारण सवाल नहीं है। यह अत्यंत गंभीर और असाधारण सवाल है, क्योंकि इसी सवाल को निरर्थक और महत्वहीन करने की सारी कोशिशें ब्राह्मण वर्ग द्वारा की गई हैं। ये कोशिशें अकारण नहीं की गई हैं, वरन इनके पीछे सांस्कृतिक फासीवाद और वर्णव्यवस्था का शासन स्थापित करने का लक्ष्य रहा है।

हम इस सवाल को इस तरह समझें। शूद्रों के अतिरिक्त भारत में तीन वर्ग और हैं—1. तथाकथित जरायम पेशा जातियां, 2. आदिम जनजातियां और 3. अछूत जातियां। इन तीनों वर्गों को हिंदू सभ्यता ने ही जन्म दिया है।

डॉ. आंबेडकर कहते हैं कि इन वर्गों का अस्तित्व एक कलंक है। यदि इन वर्गों के संदर्भ में हिंदू समाज को मापा जाय, तो कोई भी इसे सभ्य समाज नहीं कह सकता। वे यह भी कहते हैं कि किसी अन्य देश में यदि ऐसी जातियां रहतीं तो लोग अपने मन को टटोलते और उनके मूल का पता लगाते। पर इस बारे में हिंदुओं के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। हिंदुओं ने न तो यह जानने की कोशिश की कि ये वर्ग कहां से आए और न उनके प्रति अपने किसी दायित्व को महसूस किया।

ऐसा उन्होंने क्यों नहीं किया? इस सवाल का जवाब भी इस सवाल के जवाब में निहित है कि ब्राह्मणों में कोई वाल्तेयर पैदा क्यों नहीं हुआ? डॉ. आंबेडकर के अनुसार सच्चाई यह है कि ब्राह्मणों के हाथों में जो सत्ता है, वह हिंदू सभ्यता की देन है जिसमें उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है और निम्न जातियों को गुलाम बनाकर इस तरह की कठोर व्यवस्था में रखा गया है कि वे ब्राह्मणों को चुनौती नहीं दे सकें। डॉ. आंबेडकर कहते हैं कि यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक ब्राह्मण ब्राह्मणवाद का मुकुट धारण किए हैं, चाहे वह रूढ़िवादी हो या नहीं, वह पुरोहित को या गृहस्थ, विद्वान हो या बुद्धिहीन। ऐसी स्थिति में कोई ब्राह्मण वाल्तेयर कैसे बन सकता है? ब्राह्मणों में से यदि कोई वाल्तेयर पैदा हो भी गया, तो वह उस सभ्यता के लिए प्रत्यक्ष खतरा बन जाएगा, जिसका निर्माण ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए किया गया है।

अतः जब तक भारत की इस सामाजिक संरचना को नहीं समझा जाएगा, तब तक न तो दलित चेतना को समझा जा सकता है और न दलित विमर्श को। इस सामाजिक संरचना में 'जरायमपेशा' जातियों, आदिम जनजातियों और अछूत जातियों के विशाल समूह के अस्तित्व और उपस्थिति को एक सभ्य समाज का प्रमाण नहीं माना जा सकता। यह विशाल आबादी कैसे अस्तित्व में आई? हिंदू समाज के पास इसका कुछ पौराणिक मिथकों के सिवा कोई वैज्ञानिक जवाब नहीं है। लेकिन इन वर्गों में, अंग्रेजी राज तथा ईसाई मिशनरियों के प्रयासों से आई शैक्षिक जागृति के कारण अपने इतिहास को खोजने के क्रांतिकारी प्रयास हुए हैं। इन प्रयासों से जो स्थापनाएं सामने आई हैं, उनमें हिंदुओं के सारे पौराणिक मिथक ध्वस्त हो गए हैं।

इन वर्गों में उभरी प्रतिभाओं ने अपनी योग्यता से पूरे विश्व को प्रभावित किया और इस मिथक को तोड़ दिया कि वे सिर्फ दास-कर्म करने के लिए ही ईश्वर द्वारा पैदा किए गए हैं। उन्होंने जोरदार ढंग से इस सवाल को उठाया कि किसी को भी जाति के आधार पर दास नहीं बनाया जा सकता। उन्होंने हिंदुओं के धर्मशास्त्र का खंडन करते हुए स्थापना दी कि करोड़ों लोग इसलिए अपराधी, आदिम जनजातियां और अछूत बन गए, क्योंकि विकास के अवसरों से उनको वंचित रखा गया। उन्होंने मानव अधिकारों की दृष्टि से दलितों के मानव अधिकार बहाल करने की आवाज उठायी, जिसके लिए हिंदुओं के धर्मशास्त्र में कोई गुंजाइश नहीं है। उन्होंने हिंदुओं के धर्मशास्त्र को द्विजों का न्यायशास्त्र बताया, जो उनके लिए स्वर्ग की व्यवस्था करता है। दलित वर्गों के लिए नरक की व्यवस्था करने वाले हिंदू धर्मशास्त्रों को उन्होंने मानने से इंकार कर दिया और उसमें आग लगा दी। डॉ. आंबेडकर ने 1927 में महाड़ तालाब के सत्याग्रह में 'मनुस्मृति' को सार्वजनिक रूप से जला कर बीसवीं शताब्दी में दलित विमर्श को नए तेवर दिए थे। इस अवसर पर सम्मेलन ने दो संकल्प पारित किए थे। इनमें एक संकल्प था, 'हिंदू के अधिकारों की घोषणा'। इसमें कहा गया था—

“इस सम्मेलन का दृढ़ मत है कि हिंदू समाज की वर्तमान दयनीय दशा केवल यह दर्शाती है कि किस प्रकार किसी समाज का पतन हो जाता है, जब वह सामाजिक अन्याय को सहन करने लगता है, गलत धार्मिक आस्थाओं का समर्थन करने लगता है। हिंदू समाज का पतन केवल इस कारण हुआ कि आम लोगों ने यह जानने की चेष्टा नहीं

दलित विमर्श जिस सिद्धांत को विकसित करता है, वह भारत के लोगों के बारे में सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के संबंध में है। आम तौर पर भारत की आबादी का वर्गीकरण भाषाई या धार्मिक आधार पर ही किया जाता है। इस वर्गीकरण से यह तो पता चलता है कि भारत में इतने हिंदू, इतने मुसलमान, इतने ईसाई और इतने सिक्ख आदि रहते हैं। या यह पता चलता है कि भारत में इतने लोग मराठी, इतने तमिल इतने बांगला और इतने लोग गुजराती बोलते हैं पर इसमें विभिन्न जनआंदोलनों का पता नहीं चलता। दुर्भाग्य से समाजशास्त्रियों ने किसी अन्य दृष्टिकोण को अपने अध्ययन का आधार नहीं बनाया। लेकिन डॉ. आंबेडकर ने पहली बार इस ओर ध्यान दिया। वे पहले समाजशास्त्री हैं, जिन्होंने भारत की आबादी के अध्ययन में इस दूसरे दृष्टिकोण को अपनाया। उन्होंने कहा कि भारत में धर्म का वही स्थान है, जो मध्य युग में यूरोप में चर्च का था। अतः धर्म को ध्यान में न रखना भूल होगी। पर धार्मिक दृष्टिकोण को सतही चित्र प्रस्तुत करेगा, वह लोगों का वास्तविक और पर्याप्त चित्रण नहीं कर सकता। इसलिए डॉ. आंबेडकर ने कहा कि यह जानना ज्यादा महत्वपूर्ण है कि सामान्य जनता और उसके विभिन्न वर्गों के लोग भारत में किस प्रकार का जीवन—यापन करते हैं? उनके सामूहिक जीवन की सामाजिक अनिवार्यताएं और आर्थिक जरूरतें क्या हैं? कहां तक वे धर्म से प्रभावित हैं।

अतः जब हम सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भारत के लोगों का वर्गीकरण करते हैं, तभी जरायमपेशा जातियों, आदिम जनजातियों और अछूत जातियों के विशाल वर्ग अस्तित्व में आते हैं। तब डॉ. आंबेडकर पूछते हैं — “आदिम जातियों के करोड़ों लोगों को हिंदू सभ्यता क्या देती है? इस सभ्यता के अंतर्गत जो पांच करोड़ (आज 26 करोड़) अछूत न केवल रह रहे हैं, बल्कि जिन्हें इसे सहन करना पड़ रहा है, उन्हें वह क्या देती है? ऐसी सभ्यता के बारे में आदिम जातियां क्या कहेंगी, जिन्हें इसने अपने में शामिल करने का कोई प्रयास नहीं किया है? ऐसी सभ्यता के बारे में जरायमपेशा जातियां क्या कहेंगी, जिन्हें खदेड़कर उसने विवश कर दिया है कि वे अपनी रोजी—रोटी कमाने के लिए जुर्म को अपना धंधा बना लें? यदि वे कहें कि यह सभ्यता नहीं बल्कि सभ्यता के नाम पर एक कलंक है, तो यह क्या अनुचित होगा?”

संयोग से यह लेख ऐसे समय लिखा जा रहा है, जब दक्षिण अफ्रीका के डरबन शहर में नस्लीय भेद भाव के खिलाफ विश्व सम्मेलन हो रहा है। भारत सरकार और भारत के हिंदू बुद्धिजीवी दोनों ही भारत की जाति समस्या को नस्लीय समस्या मानने के पक्ष में नहीं हैं और इसी आधार पर वे दलित संगठनों के डरबन जाने के भी खिलाफ हैं। जाति और नस्ल के भेद पर हम विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में करेंगे। यहां प्रसंगवश यह प्रश्न जरूर गौरतलब है कि जब भारत में नस्लीय भेद नहीं है, जाति और नस्ल अलग—अलग हैं, तो इन जरायमपेशा जातियों, आदिम जनजातियों तथा अछूत जातियों को हिंदू सभ्यता ने अपने अंदर शामिल क्यों नहीं किया? करोड़ों लोगों को अछूत बनाकर उनके साथ भयानक सामाजिक अलगाव क्यों हैं। डरबन के लिए दलित दावे का विरोध करने वाला कोई भी हिंदू इस प्रश्न के उत्तर में बगलें झांकने के सिवा कुछ नहीं कर सकता।

दरअसल, उलझाव वहां पैदा होता है, जहां दलित समस्या को सिर्फ दलितों की समस्या मान लिया जाता है। अधिकांश हिंदू बुद्धिजीवियों की उलझन की वजह यही है। वे दलित समस्या में भी अलगाववादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। इसलिए जब वे इस समस्या पर विचार करते हैं, तो यह उन्हें अपनी समस्या प्रतीत नहीं होती। उन्हें यह भी अहसास नहीं होता कि यह पूरे समाज की समस्या है।

लेकिन दलित चिंतक इस अलगाववादी दृष्टिकोण से नहीं सोचते। वे दलित—समस्या को राष्ट्रीय समस्या के रूप में देखते हैं। डॉ. आंबेडकर ने अनेक स्थलों पर जोर देकर इस बात को कहा है कि दलितों का उत्थान राष्ट्र का

होता। इसका कारण है वे विशेषाधिकार जो अन्य श्रमिक वर्ग (सवर्ण वर्ग) को प्राप्त हैं और दलित श्रमिक वर्ग को प्राप्त नहीं हैं। एक गरीब ब्राह्मण और एक गरीब दलित के बीच भाईचारा या समान हितों के लिए संघर्ष की समान चेतना विकसित नहीं हो पाती है तो इसलिए कि वर्णव्यवस्था में दोनों की सामाजिक स्थितियां भिन्न-भिन्न हैं। ब्राह्मण उच्च हैं, तो दलित नीच माना जाता है। यह धर्म की स्थिति है। इसलिए इस धार्मिक व्यवस्था से लड़े बिना आर्थिक वर्ग दृष्टिकोण से दलित समस्या को हल नहीं किया जा सकता।

डॉ. आंबेडकर की मान्यता थी कि संपत्ति की बराबरी ही वास्तविक सुधार नहीं है। समाजवादियों से उनका सवाल था कि क्या वे आर्थिक सुधार, सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बगैर कर सकते हैं? उन्होंने लिखा है कि समाजवादियों ने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया है। वे आगे लिखते हैं कि सामाजवादी या साम्यवादी यदि क्रांति से पूर्व जाति को महत्व नहीं देते, तो क्रांति के बाद अवश्य ही जाति पर ध्यान देने के लिए मजबूर हो जाएंगे। क्योंकि, जाति एक ऐसी राक्षस है, जो आप कहीं भी और किसी भी दिशा में जाएं, वह आपका रास्ता जरूर काटेगा। अतः जब तक इस राक्षस को नहीं मार दिया जाता है, तब तक न तो कोई राजनैतिक सुधार किया जा सकता है और न ही आर्थिक सुधार किया जा सकता है।

मार्क्सवादियों के लिए यह सवाल गौरतलब होना चाहिए कि वे दलितों में मार्क्सवादी आंदोलन को मजबूत करने में सफल क्यों नहीं हो सके? इस सवाल को एक दूसरे सवाल के साथ जोड़कर भी विचार करने की जरूरत है। यह सवाल है कि क्या कारण है कि मार्क्सवाद का सारा नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में रहता और आज भी है? यदि मार्क्सवाद मजदूर वर्ग का दर्शन है और कार्ल मार्क्स सर्वहारा के नायक हैं, तो उनकी जरूरत ब्राह्मणों को क्यों है? यह उल्टी गंगा कैसे प्रवाहित हुई? इसका अर्थ यही है, जैसा कि डॉ. आंबेडकर का भी मत है कि भारत में मार्क्सवाद गलत हाथों में जाकर अपना लक्ष्य खो बैठा? इस ब्राह्मण नेतृत्व ने वास्तविक सर्वहारा दलित वर्ग के हाथों में नेतृत्व नहीं जाने दिया। परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवाद भारतीय सामाजिक यथार्थ से जुड़कर क्रांति करने में असफल रहा।

इस विषय पर आपको विस्तृत चर्चा आगे मिलेगी जहां हमने विविध आंदोलनों पर विचार किया है। यहां संक्षेप में मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि जाति और वर्ग की धारणाओं का आपसी रिश्ता क्या है? इस पर डॉ. आंबेडकर ने अपने निबंध "वह समाज जिसे हिंदुओं ने बनाया" में विस्तार से प्रकाश डाला है। इस निबंध से मैं कुछ तथ्य आपके समक्ष रखने की कोशिश करता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि जाति की धारणा वर्ग की धारणा से भिन्न है और उसके प्रतिकूल भी है। लेकिन फिर भी जाति व्यवस्था एक वर्ग व्यवस्था को भी मान्यता देती है। जिस प्रकार हिंदू अनेक जातियों में बंटे हुए हैं, उसी प्रकार जातियां भी विभिन्न वर्गों में बंटी हुई हैं। यानी, हिंदू में जाति भावना भी होती है और वर्ग भावना भी होती है। लेकिन, उसमें जाति भावना या वर्ग भावना इस बात पर निर्भर करती है कि उसका टकराव किस जाति से होता है। जिस जाति से उसका टकराव होता है, यदि वह उसके वर्ग की जाति है, तो उसमें अपनी जाति श्रेष्ठता की भावना होती है। यदि जाति उसके वर्ग के बाहर की होती है, तो उसमें वर्ग श्रेष्ठता आ जाती है।

दरअसल जाति वर्ग व्यवस्था का विकसित रूप नहीं है। जो ऐसा मानते हैं, वे गलती करते हैं। जाति वर्ण का विकृत रूप है। जहां जाति ने वर्ण व्यवस्था को पूर्णतः विकृत कर दिया है, वहां उसने वर्णव्यवस्था से वर्गव्यवस्था उधार ले ली है। इसे आप इस तरह से समझ सकते हैं। हिंदुओं की दो शाखाएं हैं – 1. सवर्ण हिंदू और 2. अवर्ण हिंदू। प्रथम शाखा में जातियों के दो वर्ग हैं – 1. आदिम और 2. शूद्र। दूसरी शाखा अर्थात् अवर्ण हिंदुओं में जातियों के दो वर्ग

नफुय वकुरेदफक एा हकुक ध मकफकु

&MKW Vh-oh- dVVheuh

मनुष्य का जीवन मूलतः संघर्षमय रहा है। जनम से लेकर मृत्यु तक यह प्रक्रिया चलती ही है। Struggle for existence एक वैज्ञानिक तत्व रहा है। प्रत्येक जीव को यह अन्वय होता है। उन जीवों में मनुष्य जाति बौद्धिक रूप से ही नहीं बल्कि शारीरिक रूप से भी विशिष्ट है। साथ ही खाद्य संपादन और सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के स्तर से वह नैसर्गिकता को अपनी बौद्धिक कुशलता द्वारा परिवर्तित करने की क्षमता रखता है, पर उसके लिए सही व्यवस्था नहीं रही, परन्तु अव्यवस्था को ही व्यवस्था के रूप में परिवर्तन कर अपने जीवन को स्वयं ही रूपित करके कुदरत से भी ज्यादा स्वयं कृत सुविधाएँ ही इसके लिए खतरनाक साबित हुई है।

‘men was born free;but everywhere he is in chains’_ विद्वान रुसों की ये बातें भारतीय सामाजिक जीवन के लिए दर्पण की तरह है। सदियों से भारतीय समाज ने एक अंतर बनाये रखा है। यह अंतर मूलतः असमानता की नींव बनी हुई है। वहीं असमानता जाति, धर्म, अक्षर, अभिव्यक्ति, संस्कृति आदि मनुष्य की अभिन्न भावनाओं पर आधारित है। उसी के परिणामस्वरूप हमारी सामाजिक व्यवस्था अव्यवस्था का बनी हुई है। उसको सहनीय बनाने के लिए तत्वज्ञानियों से लेकर बसवेश्वर, कबीर आदि अनेक समाज सुधारकों के सदियों से किए गए प्रयत्न अंशतः व्यर्थ साबित हुए हैं ये सामाजिक अव्यवस्था केवल भारत के लिए सीमित नहीं है बल्कि सारे विश्व में इसकी व्यापकता होने पर भी हमारे देश में यह परिस्थिति अत्यन्त गंभीर बनी हुई है।

कहा जाता है कि ब्रह्मा के सिर से ब्राह्मण, बाँहों से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य तथा चरणों से शूद्र जन्में हैं। इस तरह दैवनिर्मित पंडित लोग व्याख्या भी सुनाते हैं तथा इसे विधिका नियम बताकर विश्वास भी दिलाते हैं कि वही मनुष्य—जीवन के लिए दुःखका कारण बन जाता है। यह व्याख्यान सामाजिक स्थान—मान को निर्मित करने का गंभीर षड्यंत्र है। इस व्याख्यान की व्यापकता पर जो ध्यान दिया जाता है, उतना ही उसके परिणाम पर भी गंभीर रूप से आलोचना करने की जरूरत है। वास्तव में इस व्याख्यान का एक शासन के रूप में प्रस्तावित होना बड़ा आत्मघातक है। इस प्रकार ‘श्रेष्ठता’ को एक मूल्य के रूप में रूपायित करना एक विशेष बवंडर जैसा है। यह नींव केवल सुखकारी जीवन के लिए अभिव्यक्त होने पर भी वे जीवन के सांस्कृतिक स्तर के निदेशक तत्व के रूप में रहे हैं। उनमें प्रमुख रूप से अक्षर ज्ञान अर्थात् लिखाई—पढ़ाई सीखने की प्रक्रिया है। परन्तु अब तक जो कुछ लिख गया है, उसे ही भाग्य का लिखा हुआ बताकर भेजा जाता था। इसका परिणाम सदियों से आज तक अत्यन्त भयंकर है। इसी कारणवश अक्षर ने मनुष्य को एवं समाज को किस मोड़ पर लाकर खड़ा किया है। उसे पहचानने की सख्त जरूरत है। जीवनानुभवों का मूर्त रूप ही अक्षर है। इसीलिए कहा जाता है कि अक्षर—अभिव्यक्ति भी सामाजिक लड़ाई का एक प्रबल अस्त्र है।

हजारों सालों पूर्व ही कन्नड़ के आदि कवि पंच (दसवीं शताब्दी) ने कहा है कि ‘मनुष्य जाति तानोन्देवल’ अर्थात् ‘मनुष्य स्वयं एक जाति है।’ उसकी परंपरा और परिवेश पर ध्यान देने से कवि पंच की वाणी की आंतरिक शक्ति और जीवन ध्वनि स्पष्ट होती है। हजारों साल पुरानी हमारी परंपरा की धार्मिक संस्थाओं एवं तत्वज्ञानियों द्वारा दी गई परिभाषाओं से हम भली भांति अवगत हैं। ये सभी मनुष्य समाज के सामान्य स्तर से जुड़ी हुई हैं। फिर भी उससे उद्भूत परिणाम विभिन्नता की कड़ियाँ हैं। परन्तु राजाश्रय में पले कवि पंच की वाणी में आत्मीयता के साथ—साथ अधिकारगत सामाजिक प्रतिष्ठा भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप वृत्ति के आधार पर बनाये गये कौमी जीवन मूल्यों पर रूपायित सामाजिक स्थान—मान का प्रधान स्तर है। कौम के कारण कुछ लोगों

परंपरा की नींव पर उत्तर के अन्वेषण में चलते हैं तो आंबेडकर वैज्ञानिक नींव पर समस्या का उत्तर तलाशना चाहते हैं। इन दोनों की मनोभावनाओं का आपस में मेल न होना ही भारतीयों के लिए कष्टदायक रहा। इस प्रकार के अंतर्विरोधी विचारों का अंग्रेजी शासन ने नाजायज फायदा उठाया। वर्णाश्रम-कौम जैसी व्यवस्था के कारण से हमारे सांप्रदायिक विश्वास और वर्तमान परिस्थिति एक दूसरे के खिलाफ काम करने लगे हैं।

फौल्यान कोलेन्ड ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप को लेकर कहा है कि, *The Caste System of India, as a system of Division labour and land control may have developed in the earlier kingdoms of northern India* Herold Gould (*In the Module caste and class; a comparative view*) shows the parallel in the development of the Indian division of labour embodied in the caste system, with developments of Division ion other ancient states. What makes of the Indian Caste System unique is the feature of closed endogamous descent groups as the social unit for Occupational Specialization. This feature has no parallel in Other Societies (*Caste in Contemporary India Beyond on ganic Solidarity-24*).

इस प्रकार के उपयुक्त स्वरूप को समझकर गांधीजी इसके नाश का अर्थ व्यक्तित्व का नष्ट समझते हैं, तो इससे अद्भुत संकीर्णता को स्पष्ट रूप से विश्लेषण करके आंबेडकर 'जातीयता को जड़ से नष्ट किये बिना भारत का कोई भविष्य नहीं है आदि विचारों पर डटे रहे हैं।

इन विचारों के साथ इस देशवासियों की भावनाओं को स्पष्ट रूप से जानते हुए डॉ. राममनोहर लोहिया ने इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं –

“भारतीय जन समुदाय विश्व में ही कुचला गया है। इसका कारण उनकी गरीबी और उनका बीमारी से पीड़ित रहना है। वह अपने हाल ही के चरित्र में तार्किक रूप से निष्कलंक निर्लिप्तता के सिद्धांत के इच्छुक थे, अत्यन्त निचले स्तर के आचरण हमारे जन्म से लेकर मरण तक नियमित चौखट की सृष्टि करते आये हैं। इन सभी सवालों को मुट्ठियों के बाहर निकलने के लिए हमें आत्मसामर्थ्य की आवश्यकता है। खानदानों में वर्ण और कौम के कारण पराधीन दलित वर्ग के लिए भारतीय अवैदिक मतधर्मों ने थोड़ी चेतना प्रदान की, इसके उपरान्त मुसलमानों की प्रशासनिक के साथ ही अंग्रजों द्वारा रूपित सबके लिए एक ही सामाजिक व्यवस्था से उनके जीवन में नई दिशा का आगमन हुआ।”

मैंने यहाँ पर अध्ययन के लिए कन्नड़ की पाँच आत्मकथाओं को लिया है, जिनसे आजादी के बाद की स्थितियाँ भी स्वतंत्रता के पूर्व की तरह स्पष्ट होती हैं। पिता का पता होने पर भी 'अक्करमाशी' का नायक अपने पिता का नाम सहज अधिकार से बता नहीं पाता। 'उचल्या' द्वारा अपनी कौम की असलीयत को बताने वाले लक्ष्मण गायकवाड़; सरकारी सुविधाओं को हासिल करने के लिए अपमान महसूस न करने वाले लेकिन खुले समाज में अपने आप को गवर्नमेंट-ब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण मानने वालों की मनःस्थिति को पाठकों के सम्मुख रखने वाले अरविंद मालगति, स्वप्रतिभा के प्रकाश में गरीबी के गाढांकार से लड़ने वाले सिद्धलिंगय्या आदि दलित आत्मकथाकार नयी पीढ़ी के आत्मनिरीक्षण करते-करते, कभी-कभी अपने आप पर हास-परिहास, व्यंग करते हुए भी अपने अदम्यजीवनोत्साह से परे जीवन प्रीति के द्वारा दलित समुदाय के भविष्य को समाज के सामने रखते हैं। अपनी आत्मकथा 'ऊरुकेरी' (गाँव, गली) में सिद्धलिंगय्या की हास्यप्रज्ञा कन्नड़ सारस्त लोक में प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त पाँच 'आत्मकथाएँ' प्रधान रूप से दलित वर्गों की अभिव्यक्ति से भरी पड़ी हैं। वे हजारों सालों से वर्ण-भेद के कारण बहिष्कृत किये गए थे। हमारी व्यवस्था के दहलीज में 'सामूहिक जीवन' जीने के लिए बहिष्कार के

समग्र रूप से भारत की धार्मिक संकीर्णता का अध्ययन करने के लिए दलित आत्मकथाएँ बहुआयामी स्रोत के रूप में उपक्रम सिद्ध हुए हैं। इसलिए इन आत्मकथाओं का समाजोन्मुखी अध्ययन किया जा सकता है। कन्नड़ से भी अधिक मराठी में दलित आत्मकथाएँ लिखी गयी हैं, साथ ही संकीर्ण जीवन के अनुभवों को अभिव्यक्त करने में सफल हैं। इन आत्मकथाओं का मुख्य उद्देश्य यह है कि अस्पृश्यता तथा भूख को मिटाने के लिए सदियों से चलाया जा रहे संघर्ष को जारी रखना है। यह संघर्ष सभी गरीबों का होने पर भी सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से दलितों का जीवन अत्यन्त विभिन्न त्रासदी भरा है। चंद रचनाओं में अभिव्यक्त कुछ उल्लिखित वास्तविक सत्य उस व्यवस्था की दुर्बलता को स्पष्ट करते हैं।

विश्राम के लिए प्रेत को जहाँ रखा गया था वहाँ अंगली भर ज्वार के दानों का ढेर पड़ा हुआ था। शमशान-भूमि के भीतर ले जाने के पूर्व प्रेत को शमशान-भूमि से थोड़ी दूरी पर कंधा देने वाले विश्राम के लिए नीचे रखते हैं। खुद भी विश्राम करते हैं। प्रेत को विश्राम के लिए जहाँ रखा जाता है, वहाँ अंजली भर ज्वार और कुछ पैसे रखकर लोग प्रेत के पैर छूते हैं, अंतिम दर्शन करते हैं। मुझे विश्वास का वह ज्वार निमंत्रण दे रहा था। अंततः मैं वहीं रुक गया। मैं कमीज में ज्वार के उस ढेर को समेटने लगा और फिर तेजी से घर की ओर भागा। खुश हुआ कि संतामायी मुझे आज कितनी आत्मीयता से चूमेगी, प्यार करेगी।” (अक्रम संतान)

“हमारी चोरों की जात होने के कारण कोई भी पिताजी को काम नहीं देते थे। धोंडब्बा को खेती के काम के लिए भेजा नहीं जाता था। अंत में घर का खर्चा चलाने के लिए दादी को ही चोरी की वृत्ति को आगे चलाना पड़ा। मेलों में बच्चों के हार, महिलाओं के गले के हार, बाली, अंगूठी आदि को तेज धार के रेजर पत्ति द्वारा काट कर चोरी किया करती थी। उन चोरी के सामानों को साहूकारों को बेचकर घर चलाया करती थी। कभी-कभी उचल्या (गठरी चोर) लोगों के घरों पर पुलिस द्वारा छापा डाला जाता था। उस समय चोरी के माल को साहूकार और पुलिस-पाटिल लेकर पुलिसों को रिश्वत देकर मामले को ठंडा कर देते थे। पुलिस-पाटिलों की आज्ञा के बिना हमारे कौम के लोग दूसरे गाँव को जा नहीं पाते थे। गाय-बछड़ों को बेचते समय इस प्रकार की पद्धतियों का रिवाज था। हमारा जीवन इससे भिन्न नहीं था। दूसरे गाँवों में तीन दिनों से अधिक निवास करने पर या प्रमाण पत्र न रहने पर उस गाँव के पटेल हमें चोर समझते थे। हम पर चोरी का आरोप लगाकर हमसे रुपये ऐंठते थे। इसीलिए हम लोगों का प्रमाण पत्र मानो भगवान की आज्ञा थी। जेब-कतरे के भारत रेजर को ही लक्ष्मी संज्ञा थी।” (उचल्या)

“सुबह हुई समय पर निकल चुका था। मैं उठा गली के ज्यादा-कम सभी लड़कों ने उनमें लड़कियाँ भी हाथ में सिलावट के थाने और टूटे-फूटे बरतन लेकर भाग रहे थे। एक से एक आगे जा रहे थे। सिलावट की एक टूटी थाली लेकर उनके साथ मुझे भी भागते हुए माँ ने देख लिया था। केवल फटी हुई चड्डी पहनाया हुआ था। बचा शरीर नंगा था, गाँव में जाते ही हर एक अलग गली में चले गये। भीख माँगने के विषय में मुझे किसी प्रकार का अनुभव नहीं था। पिताजी स्कूल भेजने के इच्छुक थे, इसी कारणवश उन्होंने मुझे भीख माँगने के लिए भेजा नहीं था। पिता की आज्ञा के अनुसार प्रथम घर के चार्ज को एक लड़की ने ले लिया था। दूसरे घर के सामने जाकर, जिस प्रकार मुझे बताया गया था उसी प्रकार मैंने शुरू किया। “आप का जय हो, लक्ष्मी आपकी होगी लक्ष्मी वश होगी....आपको यश मिलेगा...चाची एक रोटी का टुकड़ा दो” घर से कोई बाहर नहीं निकला। फिर से उन्हीं वाक्यों को तेजी से और ऊँची आवाज में दोहराया, थोड़ी देर बाद एक औरत आकर ‘इतने लोग कहाँ से आये हैं। दूसरी जगह अकाल पड़ा हुआ है क्या? चल, मर चल, जी नहीं पायेंगे तो हमें क्यों तकलीफ देते हैं।’ इस तरह मुझे शर्मिंदा किया तथा गालियाँ दी थी, इतना सब कुछ बोलकर मेरी थाली में रोटी का एक-चौथा टुकड़ा जिस तरह कुत्ते को फेंका जाता है उसी तरह फेंककर चली गई, मेरी आँखों में आँसू भर आये। अब आगे के घर में भीख न माँगने का

हैं। मन को दहला देने वाली कुछ भयानक घटनाएँ भी इन कृतियों में दिखाई देती हैं। कुछ मजेदार प्रसंग भी देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए, सिद्ध लिप्या के स्कूल बैग की जाँच करने से लड्डू मिलते हैं। उसके बाद लड्डूके सभी उसे लड्डू-लड्डू नाम से बुलाते हैं। झगड़ने का नाटक करते हुए मूँगफली को उठाकर लाना। एक जगह गरीबी या दीनता है, तो दूसरी ओर सामाजिक दिग्बंधन है। इन दोनों के बीच का जीवन त्रिशंकु की तरह है। ऐसी व्यवस्था मनुष्य को क्या-कुछ बनाती है? इसके ज्वलंत तथा अनेक उदाहरण हमारी परंपरा में भरे पड़े हैं। कर्ण, एकलव्य, शंबूक आदि चरित्रों को पुराण में देखा जा सकता है। सेवावृत्ति ही इनका प्रमुख कार्य समझकर परिश्रम करवा लिया गया है। परिश्रम, सामर्थ्य होने पर भी संपत्ति का इनके यहाँ न होना ही इत्तेफाक की बात नहीं है। इसीलिए मैं समझता हूँ कि आत्मकथाओं के प्रत्येक विषय महत्वपूर्ण हैं। आजादी की लड़ाई में दलित और पिछड़े वर्गों की हिस्सेदारी में जो सहज-देशभक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

मनुष्य अपने जीवन में समाज में मुक्त एवं स्वतंत्र है तो वह उतना ही अधिक सृजनशील होता है। गुलामी मनुष्य को निर्बल बनाती है। शोषित के हमेशा अपनी मेहनत द्वारा समाज के वास्तविक शिल्प होने पर भी उसके जीवन में सुख, शान्ति, सन्तुष्टि और तसल्ली का प्रवेश कभी नहीं होता। ऐसी अमानवीय, असंघटित व्यवस्था ने भारत में परदेशियों के प्रवेश के लिए आसान रास्ता बनाया। दलित आत्मकथाओं में अपमानित जीवन, दरिद्रता, क्षोभ तथा विद्रोह के चित्र इन्हीं कारणों से दृष्टिकोण होते हैं।

आज इस जनसमुदाय को मानवीय सहानुभूति, सहूलियतों, समानताओं को प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहने पर भी कुछ लोगों ने भूख की कड़ी को लाँघकर अपने आप को अभिव्यक्ति के कतार में खड़ा कर दिया है। समकालीन विश्व संपूर्ण रूप से वित्तीय स्पर्धा का क्षेत्र बना हुआ है। तीसरे विश्व के राष्ट्रों को उपनिवेशवाद से लेकर नये उपनिवेशवाद तक अनेक स्तरों पर शोषण करने वाले देशों में अमरीका प्रमुख है। अमरीका की नयी आर्थिक नीतियों के कारण गरीब देश और भी भिखमंगे होते जा रहे हैं। भूख के कारण कुछ भी करने के लिए, किसी भी प्रकार के कष्टों को सहने के लिए तैयार जनसमुदाय की तीसरी दुनिया में सृष्टि हुई है। आज परंपराओं से वित्तीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से शोषित उन जन समुदाय के विकास के लिए यह पद्धति एक बहुत बड़ी बाधा ही है। दलित वर्ग असमानता के रोग से मुक्त रहकर अधिकारों के लिए संघर्ष की स्थिति में दृष्टिगोचर है। इस प्रकार की स्थिति होने पर भी; दूसरे वर्ग अपने जीवन-अधिकारों को प्राप्त करने के लिए विद्रोह करने की परिस्थिति का निर्माण होना भारत जैसे विकासशील राष्ट्र की प्रगति के लिए बहुत बड़ी बाधा है।

इन्हीं कारणों से भारत के दलितों, शोषितों और गरीबों को केवल आर्थिक रूप से शोषित मानना असंगत होगा। साथ ही राजनीतिक दृष्टि से दलित समुदाय 'मत बैंक' के रूप में दृष्टिगत होना उनकी दुःस्थिति के ही कारण है। इसी दृष्टि से अम्बेडकर ने दलितों के लिए प्रत्येक राजनीतिक आरक्षण पर जोर दिया था। अम्बेडकर, गाँधी और लोहिया द्वारा इस देश के समग्र विकास एवं प्रगति के लिए बनायी गई योजनाओं की नींव से ज्यादा मजबूत वर्ण पद्धति बनी है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में आज भी मानव मल ढोने की अमानवीय पद्धति से लेकर सामूहिक बहिष्कार करने तक, दलितों का जीवन पिसता ही जा रहा है। उनके अधिकार तथा मांग को राजनीति दृष्टि से परखकर सहूलियतों तथा आरक्षण दिया गया है। इसी कारणवश इन रचनाओं में समाज के सामने उठाये गये प्रश्न विचारणीय हैं।

अखर सीखने से ज्यादा उसके पहले स्कूल में दाखिला लेना इन समुदायों के लोगों के लिए दुसाध्य था। इस दर्द के एहसास को हम इन कृतियों में पाते हैं। संविधान के सभी अधिकारों को कुचल, दबाकर, हमारी सामाजिक व्यवस्था की कबंधबाहु फैली हुई है। इन कृतियों के लेखक द्वारा स्कूल में दाखिला लेने के लिए सहे कष्ट, स्कूली

“मुझे मेरी जाति से भय लगता था। मेरे पिता, उनकी जाति, उनका धर्म ये मेरे नहीं थे। मैं तो ‘हिन्दू होलेय’ नाम से सहूलियतों को पा लेता हूँ। परन्तु मैं अच्छूत नहीं। मेरे शरीर में एक सवर्ण का खून बहता है। नीचे से ऊपर तक मेरे शरीर में से रक्त निकालकर फेंका जा सकेगा तो मैं जरूर वही करता। मुझे मेरे शरीर के बारे में तिरस्कार भावनाएँ पैदा होती हैं, जीने की वेदना मेरी अपनी है। वही वेदना इस कबीले (होलगेरी) की है। यह कबीले का जीवन मेरा ही है। इन जमींदारों की अमीरी के प्रहार से मैं छालों के दर्द में समेटा हूँ” (अक्रम संतान) इन आत्म-वेदना की बातों में कैसा दर्द बसा हुआ है और इन बातों को केवल स्वानुभूति से समझा जा सकता है। मानसिक दृष्टि से बच्चों के दिमाग में नीच और अच्छूत भावनाओं को उनके मन में बो देने से बच्चे सीख भी तो क्या सीखें? और कैसे सीखें? इस प्रकार के प्रश्न पैदा कैसे होते हैं? वचन, संघर्ष, आधुनिक भारत निर्माण का चिन्तन, संघर्ष इस देश में स्वातंत्र्योत्तर समय भी दिखाई देते थे और आज भी हैं। इसीलिए उन जनसमुदाय की अभिव्यक्ति और चरित्रों में आमूल विरोधाभास दृष्टिगत होता है। साथ ही सामाजिक और सांस्कृतिक स्थान-मानों के लिए मतान्तर की प्रक्रिया एक सामान्य विचार बना हुआ है। इन आत्मकथाओं में अपनी स्थिति-गति का संघर्षमय चित्रण तो है ही, परन्तु कहीं भी मतांतर, हिंसा, द्वेषादि को कैसे सुलझाया जा सकता है, इसका चित्रण नहीं मिलता। सहिष्णुता, सुधार, वैयक्तिक जिम्मेदारी ऐसी सामाजिक जिम्मेदारियों का कहीं कहीं उल्लेख मिलता है। अपने अधिकार के लिए लड़ना, साथ-साथ कर्तव्य के प्रति सजग करना भी है।

वर्ण से कौम, कौम से वर्ण को फैलाते हुए, भारतीय समाज के निचले स्तर के जीवन-अनुभवों को बताने वाली यह रचनाएँ प्रत्येक कौम के गरीबों की आवाज बनती हैं, ‘आरक्षण’ अच्छूतों के लिए संबल न बनकर, राजनीति को बढ़ावा देने का मूल सूत्र बन चुका है, इसीलिए दलित कथाकार संविधान के स्वरूप को लेकर गंभीर रूप से चर्चा करने लगे हैं। 15 वर्ष तक सामूहिक शिक्षा जैसे तात्विक प्रश्न हमारे सामने हैं। इसके साथ ही निःशुल्क शिक्षा भी होनी चाहिए, निःशुल्क का तात्पर्य है कि भोजन, आवास, पुस्तकों की आवश्यकताओं का पूरा भार सरकार को ही भरण करना होता है। इससे बच्चों की मानसिक स्थिति भी सुधर जायेगी। स्व-सामर्थ्य, आत्मविश्वास और अपनी कमाई पर टिकना इन सभी गुणों के लिए शिक्षा का सही परिवेश हमें आवश्यक है।

हिंदू धर्म की प्रमुख विशेषता कौमी पद्धति, विश्व में ही अद्वितीय है। अर्थात् कोई भी धर्म ऐसे सामाजिक संघटन को जन्म नहीं देता है। अन्य धर्मों की तरह हिंदू धर्म भी स्लामी व्यवस्था, जमींदारी व्यवस्था और साहूकारी व्यवस्थाओं को अपनाते हुए आया है परन्तु उसकी कौमी पद्धति मात्र सदा के लिए बनी है। जैसे कि हिंदू धर्म को कौमी पति या कौमी रिवाज से अलग नहीं किया जा सकता, जिस तरह धर्म-पीठों और महा गुणियाँ अन्य धर्मों के अविभाज्य अंग हैं, वैसे ही कौमी रिवाज भी हिंदू धर्म का अभिज्य अंग है। मार्क्सवाद और भगवद् गीता-पृ. 146)

और कौम के बीच का आंतरिक संघर्ष, समाज के बाहर चलने वाले सामाजिक संघर्ष के साथ बुने गये हैं। क्योंकि वर्गों की लड़ाई के साथ-साथ राष्ट्रों के बीच भी लड़ाइयाँ चलती हैं। ‘समता से वर्ग और वहाँ से दरार और उसको प्रतिक्रम के प्रकार, न्याय से कौम और वहाँ से जड़ता फिर से पीछे मुड़कर समता है। इस प्रकार प्रवाहमान प्रवृत्ति ही जनता में पाई जाने वाली मानव विधि का पूर्ण इतिहास है” (लोहिया)। यह दोनों उल्लेख भारतीय सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। इन रचनाओं में भी सूक्ष्म यप से कुछ अर्थगर्भित ध्वनियाँ हैं। ‘पुनरचना’ के विचार स्पष्ट रूप से इन रचनाओं में प्रवाहमान है।

एक संकटमय प्रसंग था कि जब इन कृतियों का प्रकाशन हुआ तब उस जन समुदाय लेखकों पर सामाजिक हमले होते रहे। अपनी जाति के खोखलेपन को समाज के सामने खोलकर, हमारी इज्जत आबरू का हवन किया गया।

जगह रहे। निर्दिष्ट रूप से जीवन के आश्रय के बिना ही वर्ग कालानुसार भी नायकविहीन, अनागरिक स्थिति में परिवर्तित हुआ है।

‘शूद्र’ वर्ग को अनादिकाल से ‘जनम और भूख’ ने हैरान कर रखा है। एक आकस्मिक है तो, दूसरा सामाजिक विभाजन के बहाने स्वार्थ रूप का कारण बना है। जिन समस्याओं ने इस वर्ग को मुख्य रूप से परेशान किया था, वे अन्य वर्ग की समस्याएँ नहीं थी। अन्य वर्ग के लोगों के लिए – अनावश्यक तर्क, वैभव, व्यवहार ही मुख्य थे, न कि निम्न वर्ग की ये समस्याएँ। उनके उद्धार के लिए प्रशासनिक अंशों के रूप में दिखाई दिए न कि मानवीयता के दायरे में कभी दिखाई दिए। उच्च वर्ग की दृष्टि में आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित जीवनमूल्य, शूद्रों के लिए निरी भूख के रूप में सताने वाला, जीवन का नग्न सत्य है और नग्न सत्य यह है कि रोटी के एक टुकड़े को पाने के लिए शूद्र लोग कभी खून करने में नहीं हिचकिचाते। कुत्ता इनके लिए स्वयं नारायण के समान लगता है। वास्तव में यह बताया गया है बिल्ली को सताने से पाप लगता है। पाप की बात को छोड़िए, कुछ दलित बिल्ली को भूँकर खाते हैं, भूख की बड़वाग्नि का शमन करने के लिए उन्हें कोई दैवी शक्ति रोक नहीं सकते। सूअर को ये लोग लक्ष्मी नहीं मानते। देशवासियों के आचरण में, हमारे धर्म में भगवान भी नहीं है, नैतिकता भी नहीं है, लोगों के हृदय पूर्ण रूप से क्लुषित हो गये हैं। इस यथास्थितिवाद से लोगों को बाहर निकालकर धर्म की शुद्ध एवं उदात्त भावनाओं को पुनः प्रतिष्ठित करना ही नयी पीढ़ी का प्रथम कर्तव्य है।

एक वर्ग, दूसरे वर्ग के साथ अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए संघर्ष करता रहा है, व्यक्ति बदल गये लेकिन आमूल परिवर्तन नहीं हो सका। मौलिक आर्थिक सबलता के कारण से वैश्यों की समाज पर अच्छी पकड़ है। आज भी हमारे राष्ट्र की राजधानी दिल्ली तो है ही यह केवल राजनीतिक कारणों से। परन्तु वास्तव में देश का पूरा कारोबार चलता है मुंबई से। इसलिए मुंबई ही देश की राजधानी है। पूरे राष्ट्र का नियंत्रण भी वही करेगा।

पापी पेट भर देना ही शूद्र वर्ग की जिंदगी का बहुत बड़ा मकसद होने के कारण से; दलित आत्मकथाओं का विश्लेषण एक दृष्टि से ‘भूख की मीमांसा है’। भूख से छुटकारा पाना ही उन लोगों के लिए मानो ‘स्वर्ग सुख’ था, इस स्वर्ग सुख को पाने के लिए उनको दूसरों के पराधीन में रहना ही सहा था। जनम के कारण से समाज के तिरस्कार के पात्र बने इस वर्ग ने भूख को मिटाना ही अपना अंतिम लक्ष्य मान लिया है। अपनी भूख के शमन के लिए ये चोरी करने की ट्रेनिंग लेने लगते हैं, चूहों को पालकर उनके द्वारा गेहूँ इकट्ठा करके, अपनी संतान की शादी करते हैं—यह सब उनके लिए असहज, अस्वाभाविक, अनार्य कार्य कभी नहीं लगते। यदि कोई ‘अपनी बेटी पर बलात्कार’ करता है तो—‘बेटी के मूत्र में उनकी मूँछों को डुंबोकर मुंडाया जाता था’, ‘कोई स्त्री, पर—पुरुष का संग करती है’ उसकी जीभ अगरबत्ती से थोड़ा सा जलाकर शुद्ध किया जाता था’ आदि उनके अपने अंधविश्वासों ने उनको और भी नगण्य बना दिये हैं। एक ओर उच्च वर्ग का भौतिक एवं दैहिक रूप से व्यवस्थित शोषण एवं अपने चारों ओर स्वयं निर्मित अमानवीय, असह्य आचरणों से वे स्वयं बंधन में फंसे हुए थे। इन अंधविश्वासों का अभाव स्पष्ट है। शोषण एवं असह्य आचरणों से वैचारिकता के प्रवेश को ही रोक रखने का षड्यंत्र भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। शूद्रों का अचल विश्वास था कि ‘शराब पीने से बीमार नहीं पड़ेंगे।’ जैसे अंधविश्वासों ने इनकी गरीबी को पाला-पोसा है, और यह नितांत गरीबी ही इनको बड़ी सुहावनी लगती है।

अठवणीचे पक्षी, बलूत, उपरा, अक्करमासी, उचल्या आदि मराठी आत्मकथाएँ; जूठन, अपने-अपने पिंजरे, दोहरा अभिशाप आदि हिंदी रचनाएँ; ऊरुकेरी, मणेगार, गवर्नमेंट ब्राह्मण, मरण मंडल मध्यदोलगे, संबोली आदि कन्नड़ दलित आत्मकथाएँ इसी सदी में रचे जाने पर भी पुरानतनकाल से उस वर्ग की आदिम भूख की कहानियाँ हैं।

3) जिस समाज को श्रेष्ठ एवं उन्नत समाज समझ बैठे थे उसमें भी व्यवस्थित दोष होने की प्रज्ञा उत्पन्न करने वाला जीवन।

इस तीसरी स्थिति में 'अपने समाज' पर अनादि काल से जो अमानवीय प्रतिबंध लगाये गये हैं— यहाँ नहीं आना है, तब नहीं आना है, छूना नहीं, खाना नहीं, सोना नहीं जैसी सीमा के खिलाफ, मानसिक रूप से अपने आप को सजग खड़ा करना—“हमारा समाज कितना पिछड़ा हुआ समाज... (उचलिया—लक्ष्मण गायकवाड़) गायकवाड़ की यह सोच एक व्यक्ति की न होकर, एक पूरी पीढ़ी के दिलों—दिमाग में गुजरने वाली प्रक्रिया है।

अपनी आत्मकथा “जूठन” के प्रकाशन से हिंदी साहित्य के केन्द्रबिन्दु के रूप में उभरनेवाली ओमप्रकाश वाल्मिकि ‘जूठन’ की भूमिका में लिखते हैं कि —“दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभव—दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्ति में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज व्यवस्था में हमने साँसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और अमानवीय हैं, दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।”

बाल्यकाल में कौमी हीनता की पीड़ा, जब प्रौढ़ावस्था में कुछ सहनीय व्यवस्था का साया होने पर पूर्व की स्थिति पर करारा व्यंग्य करने लगती है — जागृत दलित मानसिकता को। इसके साथ—साथ ‘सामाजिक धोखा’ भी लगता है — शूद्र वर्ग के लोगों को। दूसरों में हीनमान्यता उत्पन्न करने वाले एवं उसे अनुभव करने वाले दोनों को “हीनमान्यता” के लक्षण स्पष्ट रूप से मालूम नहीं रहते। उन दोनों के सामने यह जो—प्रश्न कि—वह क्यों हीन है? मैं क्या हीन हूँ? जैसे प्रश्नों का, स्थापित वर्ग भेद धारणा के द्वारा उत्तर पाना असंभव है। हीनमान्यता से ग्रस्त आदमी को उससे परे होने के बाद ही, मालूम होता है कि — वह ‘हीनमान्यता’ है। जब वह कहता है कि वह ‘हीनता’ है तो वह उस हीनता को अपनी जिंदगी से पृथक् करके ही देखता है। श्रेणीकृत समाज का यह ‘अनावश्यक विभाजन’ आदमी को ‘हीनमान्यता’ लगती है जिसके कारण से वह अपनी जिंदगी को ‘अपमान मिश्रित व्यंग्य’ समझ लेता है। सिद्धलिंगय्या अपनी कन्नड़ में लिखी हुई आत्मकथा ‘ऊरुकैरी’ में पग पग पर व्यंग्य मिश्रित शैली में अपने जीवन की कटु—वास्तविकताओं का चित्रण करते हैं। आजादी के बाद यदि दलित साहित्यकार अपने इतिहास को याद करता है तो वास्तव में वह अपने अपमान को याद करता है। इस यादगार में अपना इतिहास उनको असहनीय लगता है और इसे भूलने के लिए उनकी अभिव्यक्ति में व्यंग्य, तीखापन अपने आप आ जाते हैं।

मराठी साहित्य में आत्मकथा का अपना एक विशेष स्थान है। अन्य भारतीय भाषाओं की दृष्टि से मराठी दलित आत्मकथाएँ का अपना अलग प्रभाव समाज पर पड़ा है। मराठी में आत्मकथा की एक सौ पचास बरस की सुदीर्घ परंपरा है। ज्योतिबा फुले, बाबासाहेब आंबेडकर द्वारा अपने दुःखद जीवन के बारे में सोचने के माध्यम से उसको यथावत अभिव्यक्त करने की कोशिश की है।

ऐसे वातावरण में दलित जिंदगी की त्रासदी के लिए स्वयं प्रस्थापित परंपरा कारण है। भारतीय परंपरा का सही अर्थ जानने वाले फुले, आंबेडकर आदि — आत्मविश्वास, विचारशक्ति, शिक्षित होने के माध्यम से पुरानी व्यवस्था को सही दिशा में परिवर्तन करने के साथ—साथ, शोषणरहित समाज की स्थापना के लिए अग्रसर हुए। डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने शिक्षा प्राप्ति के बाद उत्पन्न, होने वाले ज्ञान को एक अर्थपूर्ण जनांदोलन बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया।

“दलित संघर्ष समिति का सहवास मेरे जीवन का और एक महत्वपूर्ण सोपान है। जिसके कारण से समाज के परिवर्तन के लिए अपने आपको संपूर्ण रूप से अर्पित लोगों का सान्निध्य प्राप्त हुआ, साहित्य पढ़ने का मौका मिला,

बारात खाना खा रही थी। माँ टोकरा लिए दरवाजे से बाहर बैठी थी। मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे। इस उम्मीद में कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक आ रही है, वह हमें भी खाने को मिलेगी।

जब सब लोग खाना खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा, “चौधरी जी, ईब तो सब खाणा खा के चले गए...म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो भी तो इस दिन का इंतजार कर रहे ते।”

सुखदेव सिंह त्यागी ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, “टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है...ऊप्पर से जाकतों के लिए खाणा माँ री है? अपनी औकात मे रह चूहडी! उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।”

सुखदेव सिंह त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं।

उस रोज मेरी माँ की आँखों में दुर्गा उतर आई थी। माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, “इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा.....”

हम दोनों भाई-बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे।

उसके बाद माँ कभी उनके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बंद हो गया था।
(जूठन—ओमप्रकाश वाल्मीकि)

सिद्धलिंगय्या अपनी आत्मकथा ‘ऊरुकेरी’ (गाँव, गली) में लिखते हैं—“हमारी गली के लोगों को पीने का पानी मिलता है तो वह बहुत बड़ी घटना थी।” आदि उदाहरण हमारे समाज में स्थित जमीन—आसमान के सामाजिक अंतर को दर्शाते हैं। “इन सब अंतर को एक ही दिन में हम ठीक नहीं कर सकते। इसके लिए सतत् संघर्ष एवं संघटन की आवश्यकता है, साथ साथ प्रतिष्ठित समाज, अंतर्मुखी होकर पुनः सोच करने मात्र से इन सामाजिक अंतरा को मिटा सकते हैं” (उचल्या—लक्ष्मण गायकवाड़)। कन्नड़ के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार एवं रंगकर्मी के. वी. सुब्बाण्णा के अनुसार, “आज के संदर्भ में एक ब्राह्मण को आवश्यक है विनम्रता, दलित को आवश्यक है गर्व। भूतकाल के “कालदोष” से मुक्ति पाने के लिए उसको विनम्रता की जरूरत है और इनको गर्व की। अपनी विनम्रता से उसको इसके सामिप्य पाने की कोशिश करनी होगी एवं गर्व से इनको उनकी बराबरी में खड़े होने की” (के.वी. सुब्बाण्णा—चुनी हुई रचनाएँ) साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम से दलित वर्ग अपने इस गर्व को ‘आत्मगौरव’ के रूप में प्रतिष्ठित करने में कामयाब रहा है।

। nkk । ph

- 1) शरणकुमार लिंगवाले, अक्रम संतान (मराठी)
- 2) लक्ष्मण गायकवाड़, उचल्या (मराठी)
- 3) दादा साहेब मल्लारी मोरे, गवाल
- 4) डॉ. सिद्धलिंगय्या ऊरुकेरी, (कन्नड़)

hkkjrh; nfyf l kfgR; %foopuk

- 5) अरविन्द मालगति, गवर्नमेंट ब्राह्मण (कन्नड़)
- 6) मुललुरु नागराज, मरण मण्डल मध्यदोलगे, (कन्नड़)
- 7) तुबाडी रामय्या, मणेगार (कन्नड़)
- 8) लक्ष्मण, संबोली, (कन्नड़)
- 9) डॉ. राम मनोहर लोहिया, जाति पद्धति
- 10) एस. जी. सरदेसाई/दिलीप वोस, मार्क्सवाद और भगवदगीता
- 11) डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, दलित साहित्य, सृजन के संदर्भ
- 12) रमणिका गुप्ता, डॉ. वी. कृष्ण, तेलुगु साहित्य में दलित दस्तक
- 13) कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप
- 14) जय प्रकाश कर्दम, तलाश
- 15) सूरजपाल चौहान, हैरी कब आयेगा
- 16) रमणिका गुप्ता, बहू जुठाई
- 17) मोहनदास नैमिशराय, आवाजें
- 18) डॉ. श्यौराज सिंह 'वेचैन', डॉ. देवेन्द्र चौबे, चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य
- 19) जयप्रकाश कर्दम, दलित साहित्य, 2002, 2003, 2004
- 20) ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन
- 21) Narendra Jadhav, Out Caste

(Fule's Thought on Freedom of Woman)

जोतीराव फुले एक सच्चे सामाजिक क्रांतिकारी पुरुष थे। उन्होंने नारी की स्वतंत्रता का विचार बहुत ही सामर्थ्य के साथ प्रस्तुत किया। आधुनिक भारत में नारी स्वतंत्रता का आंदोलन सबसे पहले उन्होंने ही आरंभ किया था। नारियों के प्रश्नों के संबंध में राजा राममोहन रॉय से लेकर दूसरे कई समाजसुधारकों ने अपने विचार प्रस्तुत किए और नारी की स्थिति सुधारने के लिए प्रयास भी किए। लेकिन फुले ने नारी के प्रश्न भी मनुष्य की स्वतंत्रता से जोड़कर उसकी गुलामी का वास्तविक विश्लेषण किया। नारी को गुलामी में रखने वाली व्यवस्था पर उन्होंने प्रहार किया। आज नारी स्वतंत्रता का चारों ओर विचार किया जाता है, लेकिन फुले के समय में नारी स्वतंत्रता संबंधी विचारों को भारतीय समाज में मान्यता नहीं थी। क्योंकि हिंदू धर्म ने नारी को गुलाम बनाकर रखा था। इसलिए नारी स्वतंत्रता का विचार प्रस्तुत करना अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से हिन्दू धर्म को चुनौती देना जैसा था इस प्रकार की बड़ी विपरीत परिस्थिति हाने के बावजूद नारी स्वतंत्रता का विचार प्रस्तुत करके धर्म की गुलामी से मुक्त करने के अलावा नारी को स्वतंत्रता नहीं मिल सकती, ऐसा मौलिक विचार उन्होंने प्रस्तुत किया।

विश्व में कार्ल मार्क्स के विचारों से क्रांति आयी। मार्क्स ने वर्गीय चेतना, वर्ग संघर्ष तथा वर्गविहीन समाज—व्यवस्था का विचार दिया। मार्क्स जिस समय वर्गविहीन समाज—व्यवस्था का वैचारिक स्तर पर ग्रंथालय में बैठकर विचार कर रहे थे, उसी समय जोतीराव फुले प्रत्यक्ष रूप से नारी स्वतंत्रता के लिए कार्य कर रहे थे। कार्ल मार्क्स का 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' (Communist Manifesto) महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 1848 में प्रकाशित हुआ, और फुले ने नारी शिक्षा के लिए पहली पाठशाला 1848 में पुणे में शुरू की थी। नारियों को गुलामी से मुक्त करने के लिए शिक्षा अनिवार्य है, इस बात को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने सामाजिक क्रांति के कार्य की नारी शिक्षा द्वारा शुरुआत की।

tkrhjko Qys ds ukjh Lora=rk l ærk fopkj rFkk dk; l

19वीं सदी में पाश्चात्य देशों में नारी स्वतंत्रता आंदोलन अभी बाल्यावस्था में ही था, तभी भारत में नारी स्वतंत्रता के आंदोलन का बीजारोपण जोतीराव फुले कर रहे थे। भारत में राजा राममोहन राय जैसे समाजसुधारक ने सतीप्रथा तथा अन्य गलत रूढ़ी-परंपराओं के विरुद्ध आवाज उठाई थी। लेकिन ये सुधारक भी नारी स्वतंत्रता का समर्थन नहीं कर सके। क्योंकि उन पर हिंदू धर्म का गहरा प्रभाव था। फुले ने नारी-शिक्षा, केशवपन बंदी, बालविवाह विरोध इत्यादि कई प्रकार के सुधार कार्य किए, इसके साथ ही उन्होंने स्वतंत्रता का विचार प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया। जोतीराव फुले ने अपने सम्पूर्ण आंदोलन में नारी की समानता की लड़ाई को शूद्र अतिशूद्रों की लड़ाई के समान ही स्थान दिया था। उनके व्यक्तिगत रूप से किए गए प्रयत्नों में भी नारी-स्वतंत्रता के कार्य को प्रथम स्थान प्राप्त था।

जोतीराव फुले ने यह पहचान लिया था कि जब तक हिन्दू धर्म का नारी, शूद्र-अतिशूद्र के विरोधी तत्वज्ञान को नकारा नहीं जाता, तब तक नारी, शूद्र-अतिशूद्रों की स्वतंत्रता का विचार इस देश में पनप नहीं सकेगा। इसीलिए उन्होंने हिन्दू धर्मग्रंथों तथा दर्शन का प्रबल विरोध किया। उनका 'सार्वजनिक सत्य धर्म पुस्तक' अर्थात् नर-नारी अर्थात् मानवों की स्वतंत्रता का घोषणा पत्र है।

i) tkrhjko Qqys dk ukjh&i#k l erk dk fopkj

मानव समाज के विकास के लिए नारी को पूर्ण समानता मिलनी आवश्यक है, यह विचार जॉन स्टुअर्ट मिल ने प्रस्तुत किया। नारी-पुरुष समान हैं, उनमें किसी प्रकार का अंतर नहीं, इस विचार से सम्पूर्ण पश्चिमी देशों में नारी स्वतंत्रता आंदोलन को गति मिली थी। फुले ने सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक में स्पष्ट किया कि, हम सभी के स्रष्टा ने सभी प्राणियों को पैदा किया। इनमें नारी-पुरुष जन्म से ही स्वतंत्र तथा सभी अधिकारों का उपयोग करने के पात्र हैं।¹ नारी-पुरुष में किसी प्रकार का भेद करना गलत है, क्योंकि नारी और पुरुष दोनों एक समान हैं। पुरुष के समान ही नारी को भी स्रष्टा ने पैदा किया है। अतः नारी को निम्न स्तर का मानना ठीक नहीं है। नारी गुलाम हो ही नहीं सकती, इस प्रकार का अत्यन्त मौलिक विचार जोतीराव फुले ने प्रस्तुत किया।

उनका नारी-स्वतंत्रता का विचार दया पर आधारित नहीं था। नारी-पुरुष दोनों समान तथा स्वतंत्र हैं, इस मानवीय स्वतंत्रता के मूलभूत सिद्धान्त पर उनका नारी-स्वतंत्रता का विचार आधारित है, यह स्पष्ट होता है। उन्होंने नारी-पुरुषों का 'मानवीय नर-नारी' कहकर उल्लेख किया है।² इसी प्रकार से नारी के लिए 'मनुष्य', 'मानव' शब्दों से संबोधन करते हैं। सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक में उन्होंने नारी-पुरुषों का उल्लेख 'सभी मानव स्त्री-पुरुष' या 'स्त्री अथवा पुरुष' जैसे समान अर्थ से किया है। इसीलिए सुप्रसिद्ध अनुसंधानकर्ता गेल ऑमव्हेट ने Cultural Revolt in a Colonial Society अपने ग्रंथ में यह लिखा कि, 'उनका स्त्रियों के विषय में दृष्टिकोण उनकी भाषा में व्यक्त हुआ है। उन्होंने सभी मानवी स्त्री-पुरुष ऐसा उल्लेख किया है, जो केवल मराठी में ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी की दृष्टि से भी एक नई प्रथा है।³ नारी के लिए जोतीराव फुले ने जो समतावादी तथा सम्मानजनक शब्दों का प्रयोग किया है, उसका उल्लेख गेल ऑमव्हेट जैसी पाश्चात्य लेखिका ने किया है।

नारी-पुरुष समान तथा स्वतंत्र हैं, केवल ऐसे विचार देकर ही फुले रुके नहीं, बल्कि मानव के सम्पूर्ण विकास के लिए जिन बातों की आवश्यकता होती है, वे सभी अधिकार नारी को मिलें, ऐसा उन्होंने प्रतिपादन किया। पुरुषों के समान ही नारी को भी सभी मानवी अधिकार हैं। अतः कोई किसी पर जबरदस्ती नहीं कर सकता। इस विषय में जोतीराव फुले ने स्पष्ट से कहा कि, "हम सभी के निर्माता ने सभी नारी-पुरुषों को सभी मानवीय अधिकारों का मुख्य अधिकारी बनाया है। उसमें किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह किसी व्यक्ति पर जोर जबरदस्ती नहीं कर सकता और उस प्रकार जोर-जबरदस्ती न करने वाले व्यक्ति को ही सत्य आचरण करने वाला कहना चाहिए।"⁴

नारी-पुरुष दोनों समान रूप से सभी मानवीय अधिकारों का उपभोग करने के अधिकारी हैं। फिर नारी को एक अलग प्रकार का नियम और लोभी, अहंकारी पुरुषों के लिए दूसरे प्रकार का नियम व्यवहार में लाना पक्षपात के अलावा और कुछ नहीं है।⁵ जोतीराव फुले के ऐसे स्पष्ट विचार थे। नारी-पुरुष समान हैं, दोनों के लिए समान मानवीय अधिकार हैं, ऐसे समय पुरुष तथा नारी के लिए अलग-अलग नियम लागू करना मानवीय स्वतंत्रता के खिलाफ है। उन्होंने नारी के मानवीय अधिकारों का विरोध करने वाले धर्मग्रंथों का प्रबल विरोध किया था। वे कहते हैं कि कुछ अहंकारी पुरुषों ने अपनी जाति के स्वार्थ के लिए नकली, स्वार्थपरक धर्मग्रंथ में नारी के विरोध में ऐसे स्वार्थी लेख लिखे हैं।⁶ जिन धर्म ग्रंथों ने नारी को शूद्र मानकर, अनेक कठोर बन्धन लादे, उन सभी हिंदू ग्रंथों का उन्होंने जमकर विरोध किया। से सभी ग्रंथ कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए लिखे, इन सभी धर्मग्रंथों ने नारी के मानवीय अधिकारों को नकारा है, ऐसा उन्होंने बार-बार बताया है।

ii) tkrhjko Qys dk ukjh Lora=rk dk ?kksk.kki =

नारी स्वतंत्र है। उसे सभी प्रकार के मानवीय अधिकार मिलने चाहिए। इसीलिए फुले ने नारी-पुरुषों के मानवीय अधिकारों का सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक में विशेष रूप से उल्लेख किया है।⁷

- 1) निर्माणकर्ता ने सभी प्राणियों को पैदा किया है। नारी-पुरुष दोनों जन्म से ही स्वतंत्र तथा सभी अधिकारों का उपभोग करने के पात्र हैं।
- 2) सभी नारी-पुरुष मानवीय अधिकारों के हकदार हैं। कोई व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह किसी पर भी बल प्रयोग नहीं कर सकता।
- 3) सभी नारी-पुरुषों को सभी मानवीय अधिकारों के विषय में अपने विचार तथा मतों को व्यक्त करने, लिखने तथा प्रचारित करने की स्वतंत्रता है।
- 4) सभी मानवों को धार्मिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता दी गई है।
- 5) कोई भी नारी-पुरुष दूसरों की धार्मिक बातों के बारे में मतभिन्नता या राजनीतिक कारणों से उनको किसी भी तरह नीच नहीं मानना चाहिए, इसके लिए निर्माणकर्ता ने उनको समर्थ बनाया है।
- 7) सभी नर-नारियों को धर्म, स्थानीय और क्षेत्रीयता संबंधी हर मनुष्य की स्वतंत्रता, संपत्ति और उसके जुल्म से बचने से बचाव का हक है।
- 8) नर-नारियों में किसी भी प्रकार की पसन्दगी-नापसन्दगी के आधार पर उनमें अंतर न करते हुए उनके खाने-पीने और पहनावे आदि के बारे में किसी भी प्रकार का विधि निषेध नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार फुले ने नारी-पुरुषों के मानवीय अधिकारों के संबंध में नियम बतलाए हैं। ये नियम ही नारी स्वतंत्रता का घोषणापत्र है, ऐसा कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं।

आज नारी की गुलामी का मुख्य कारण अज्ञानता है। जिसके कारण वे अपने मानवीय अधिकारों के विषय में जागरूक नहीं हुईं, ऐसा फुले का स्पष्ट मत था। वे कहते हैं कि, 'सभी नारियों को अपने मानवीय अधिकार समझ में न आएँ, इस उद्देश्य से स्वार्थी पुरुषों ने बड़ी चालाकी से नारी को पढ़ने-लिखने से वंचित कर दिया। इसीलिए सभी नारियों को ऐसे जुल्म सहने पड़े। लोभी और स्वार्थी पुरुषों ने बड़ी छल कपट करके यह तय कर दिया कि, किसी भी काम में नारी जाति की स्वीकृति लेनी आवश्यक नहीं है। उन्होंने हर क्षेत्र में अपने वर्चस्व को बढ़ाया।⁸

जोतीराव फुले ने नारी की गुलामी का सही कारण पहचान लिया था और वह था नारी को शिक्षा का अधिकार न मिलना। इसलिए उन्होंने नारी-शिक्षा के महत्त्व को समझकर उसका समर्थन किया।

जोतीराव फुले केवल अपने देश की नारियों का ही नहीं, बल्कि सभी गांव, प्रांत, देश तथा खंड की नारियों की स्वतंत्रता का विचार करते हैं। इसी प्रकार संसार के सभी नारी-पुरुषों में किसी प्रकार का भेदभाव किए बिना, उन्हें एकजुट होकर एक दूसरे के साथ सत्य आचरण करते हुए एक परिवार की तरह रहना चाहिए, ऐसा उपदेश फुले देते हैं।

नारी के पुनर्विवाह पर पाबन्दी है, लेकिन पुरुष को पुनर्विवाह करने की स्वीकृति धर्म ने ही दी है। पुरुष अपने से बहुत कम उम्र की लड़की से शादी रचाते हैं। साठ-सार् साल का बुढ़ा सुन्दर अज्ञानी लड़की से शादी करके उसका जीवन बर्बाद कर देता है। लेकिन बाल्यावस्था में विधवा हुई लड़की को दोबारा शादी करने की आज्ञा नहीं थी। इसलिए उसका बहुत बुरा परिणाम हुआ। इस विषय में फुले लिखते हैं कि 'पवित्रता' का खोखला दिखावा करने वाले भयंकर बेशर्म आर्य अपनी जवान और पंगू भौजाई बहू के यौवनावस्था में प्रवेश करते ही रात-दिन ऐसे उनके पीछा करते हैं जिससे कि स्वाभावतः उनके कदम गलत रास्ते पर पड़ जाते हैं, परिणामतः उनको गर्भपात करके भ्रूण हत्या करनी पड़ती है।¹²

विधवा विवाह के विषय में जोतीराव फुले ने केवल विचार ही प्रस्तुत नहीं किए, बल्कि उन्होंने प्रत्यक्ष विधवा-विवाह करवाए। 8 मार्च, 1860 में पूना में उन्होंने शैणवी जाति की एक विधवा का उन्हीं की जाति के विधुर के साथ पुनर्विवाह करवाया। पहले बचपन में ही शादियां हो जाती थीं, यदि भरी जवानी में नारी के पति की मृत्यु हो जाती, तो उसे सारी उम्र भर विधवा रहना पड़ता था ऐसी विधवाओं के साथ जबरदस्ती से अनैतिक संबंध बना लिए जाते थे। विधवा यदि गर्भवती हो जाती, तो आत्महत्या कर लेती थी अथवा बच्चे को जन्म देने के पश्चात् उनकी हत्या कर दी जाती थी। इस वजह से कई जटिल समस्याएं पैदा हो गईं। अतः निवारणार्थ जोतीराव फुले ने एक 'बालहत्या प्रतिबन्धक गृह' की स्थापना की। इसकी जानकारी देने वाले पोस्टर पूना के घर-घर में लगवाए गए थे। उस पोस्टर में लिखा था कि, 'विधवाओं, यहां आकर गुप्तरूप से तथा सुरक्षित रूप से बच्चे को जन्म दो। तुम अपने बच्चे को ले जाते हो अथवा यहां रखना चाहते हो यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर रहेगा।¹³ उस बच्चे की देखभाल यह अनाथआश्रम ही करेगा। 'बालहत्या प्रतिबन्धक गृह' भारत में अपने प्रकार की पहली संस्था थी।

पूना की काशीबाई नामक एक विधवा ने बालहत्या प्रतिबन्धक गृह में एक बालक को जन्म दिया था। इस ब्राह्मण विधवा के बालक को फुले दंपति ने गोद ले लिया। जिसका नाम डॉ. यशवन्त फुले था। फुले ने स्त्री स्वतंत्रता के संदर्भ में कोरे विचार ही नहीं रखे थे, बल्कि उन पर अमल भी करके दिखाया था यह बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

नारियों पर क्रूर प्रथाएं मनुष्यों ने ही लादी हैं। उनकी दुर्दशा के लिए यहां का धर्म ही जिम्मेदार है। उनके अनुसार, नारी जाति को नीच समझने की उनकी परंपरा है। जिसके समर्थन में कई धूर्त ऋषियों ने धर्मशास्त्रों में कई संहिताएं-स्मृतियां रचकर पुरुषों को सबल बना दिया। इसकी वजह से उन्होंने आज तक इस घृणित नीच परंपरा को बनाए रखा है।¹⁴

नारी-पुरुष एक समान हैं। उन्हें मानवीय-अधिकार प्राप्त है। ऐसा होते हुए भी नारियों के लिए एक नियम तथा पुरुषों के लिए दूसरा नियम व्यवहार में लाना केवल पक्षपात ही है।¹⁵ ऐसा पक्षपात नारियों के साथ किया गया। यह जोतीराव फुले ने स्पष्ट किया।

नारी को मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया था। जिसके कारण वह धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक विषयों पर कुछ भी नहीं सोच सकती थी। ऐसी परिस्थिति में नारियों को धर्मपरिवर्तन का अधिकार होना चाहिए, यह अत्यंत महत्वपूर्ण विचार फुले ने प्रस्तुत किया था। निर्माता ने स्त्री-पुरुषों को धार्मिक स्वतंत्रता दी है।¹⁶ इस संदर्भ में उन्होंने एक बहुत ही क्रांतिकारी कल्पना प्रस्तुत की है। "किसी परिवार की एक नारी ने बौद्ध धर्मग्रंथ पढ़कर इससे प्रभावित होने पर यदि वह बौद्ध धर्म को अपनाना चाहती है, तो वह अपना सकती है और उसी परिवार का उसका पति बाईबल का नया या पुराना करार (वचन) पढ़कर अपनी इच्छानुसार चाहे तो ईसाई धर्म स्वीकार कर सकता है और

हकजरह; नफर I कफर; %फोपुक

उसी परिवार की उनकी लड़की कुराण पढ़कर अपनी मर्जी से इस्लाम धर्म की ओर आकृष्ट हो गई, तो उसको इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए। उसी परिवार के उसके लड़के को सार्वजनिक सत्यधर्म किताब पढ़कर उसकी इच्छा यदि सार्वजनिक सत्यधर्म में हो गई, तो उसको सार्वजनिक सत्यधर्म होना चाहिए। इन सभी माता-पिताओं तथा बाल-बच्चों को अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत करते समय किसी को भी किसी के धर्म से नफरत या घृणा नहीं करनी चाहिए।¹⁷

जोतीराव फुले का यह विचार अत्यंत क्रांतिकारी है। पति को जो धर्म होता है, वही नारी का धर्म होता है और माता-पिता का धर्म बच्चों का धर्म होता है। भारत में धर्म परिवर्तन की सख्त मनाई थी। नारी को अपने पति के धर्म का ही पालन करना चाहिए, इस प्रकार के सख्त बन्धन उस पर लगाए थे। ऐसी परिस्थिति में धर्म ग्रंथ पढ़कर अपनी इच्छानुसार धर्म को स्वीकार करने का विचार जोतीराव फुले ने दिया था। फुले नारी को धर्म परिवर्तन का अधिकार देते हैं। केवल इतना ही नहीं, वे धर्म को व्यक्तिगत बात मानते हैं। धर्मपरिवर्तन का अधिकार नारी को देना, फुले का बहुत क्रांतिकारी विचार है। विशेष बात यह है कि अध्ययन करके तथा सभी बातों का विचार करके ही धर्मपरिवर्तन करना चाहिए। अन्धों के समान धर्मपरिवर्तन नहीं करना चाहिए, यह महत्वपूर्ण बात फुले बतलाते हैं। नारी आंदोलन के दर्शन में धर्मपरिवर्तन की स्वतंत्रता का विचार नहीं दिया गया। इसीलिए नारी आंदोलनकारी विचारकों से भी जोतीराव फुले एक कदम आगे हैं।

नारी की स्वतंत्रता के रास्ते में आने वाली प्रत्येक बाधा का फुले ने जमकर विरोध किया था। इसी प्रकार जो बातें नारी स्वतंत्रता का साथ देती हैं, उनको उन्होंने स्वीकार किया। इसीलिए प्राचीन काल से चली आ रही पुरुष प्रधान संस्कृति के स्त्री की गुलामी के विवाह के मंत्र को उन्होंने रद्द कर दिया और उसके स्थान पर वधू-वर को समझने वाली, उनकी समानता स्थापित करने वाली, वधू-वर में प्रेम, सहाकार्य, पवित्रता की जानकारी देने वाले 'मराठी' में मंगलगीत उन्होंने स्वयं लिखे और उनका प्रचार किया। नारी को समानता देने वाले विवाह बड़े पैमाने पर हों, इसके लिए अत्यंत प्रतिकूल परिस्थिति में भी उन्होंने विशेष प्रयास किए थे।¹⁸ गेल ऑमव्हेट इस अनुसंधानकर्त्री ने भी अपने ग्रंथ में सत्यशोधक विवाह समारोह में शुरू किए गए नारी-पुरुष समानता विशद करने वाले मंगलाष्टकों का उल्लेख किया है।

वधू कहती है कि, 'हम सभी नारियों के जीवन में अत्यधिक पीड़ा अथवा कष्ट है, यह तू कैसे पहचानेगा? स्वतंत्रता के अनुभव की पहचान हमें नहीं है, तू ऐसा मानेगा। इसीलिए हम नारियों को स्वतंत्रता देगा, इसकी कसम ले!'

नयगु %o/kk% rpsfn; k ; |fi ekurk fur; ifr] dUkkz | ek/kkuh tS A
ge | Hkh ukfj; ka ds thou ea gS ihMk] tkusk rw dS AA
Lora-rkuuko dh igpku ge] ugha gS euq; ka dkA
bl hfy, vf/kdkj ns ukjh dk] [kkuk iMxk dl e rpdkaA

शुभमंगल सावधान ।।2।।¹⁹

दुल्हन के प्रश्न का उत्तर देते हुए दूल्हा कहता है कि, 'नारियों को अधिकार दिलाने के लिए मैं हमेशा प्रयत्न करूंगा। इसके लिए मैं अपना सभी कुछ अर्पण करूंगा। तू अकेली मेरी पत्नी है बाकी सभी नारियों को मैं अपनी बहन मानता हूँ, ऐसा वचन मैं देता हूँ।'

nYgk % vf/kdkj fnyku} eš >xM+r k gij ukfj; kš ds fy, l nkA
 [kpZ dh i jokg ugha ep} bl l s dHkh u Fkk eš t qkAA
 l e>rk gij l kjh ukjh dks cgU] r w vdsyh ejh fi z kA
 dUkkZ dk Mj eu ea ej} r p dks i kyus dk opu fn; kAA

शुभमंगल सावधान ।।2।।²⁰

विवाह पति-पत्नी के जीवन का महत्वपूर्ण प्रसंग एवं संस्कार है। इसी प्रकार पति-पत्नी दोनों ही परिवार का आधार है। परिवार के मुखिया की तानाशाही और नारियों की गुलामी सामाजिक विषमता तथा गुलामी का आधार है।²¹ इस मूल आधार को तोड़े बिना परिवार में नारी-पुरुष के बीच समानता नहीं होगी। इस बात को ध्यान में रखकर नारी स्वतंत्रता का महत्व बतलाने वाली मंगलाष्टकों को फुले ने लिखा था उसके अनुसार सत्यशोधक समाज के लड़के-लड़कियों की शादियां करवाई।

iv) ukjh f'k{kk dk fopkj vkj dk; l

नारी, शूद्र-अतिशूद्रों की गुलामी का जोतीराव फुले ने अचूक समाधान किया था। शिक्षा के अभाव और अज्ञानता के कारण ही नारी, शूद्र अतिशूद्र गुलामी का जीवन जी रहे हैं, इस बात को उन्होंने पहचान लिया था। सभी नारियों को मानवी अधिकार ना मिलें; इसीलिए शिक्षा पर प्रतिबंध लगाया था। ऐसा जोतीराव फुले का स्पष्ट मत था। नारियां अशिक्षित थीं, इसीलिए उन पर अन्याय, अत्याचार किए गए, इस वजह से नारी शिक्षा की आवश्यकता पर जोतीराव फुले ने बल दिया।

भारत में नारी शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाता है। इस विषय पर जोतीराव फुले तथा सदाशिव गावंडे के समक्ष मिस फॅरार ने अपना दुख व्यक्त किया था।²² फुले को भी नारी शिक्षा का महत्व पता चल चुका था। इसलिए फुले ने पूना में बुधवार पेठ में भिड़े के बाड़े में 1848 के अगस्त माह में लड़कियों के लिए पाठशाला प्रारंभ की। यह पाठशाला भारतीय व्यक्ति द्वारा शुरू की गई। भारत की पहली पाठशाला थी। फुले ने स्वयं अपनी पत्नी सावित्रीबाई को पढ़ाया। बाद में सावित्रीबाई ने भी लड़कियों को पढ़ाने का काम अपने हाथ में लिया था।

जिस युग में जोतीराव फुले ने नारी-शिक्षा का विचार प्रस्तुत किया एवं प्रत्यक्ष नारी शिक्षा का कार्य प्रारंभ किया, वह काल नारी-शिक्षा के अनुकूल नहीं था। क्योंकि हिन्दू धर्म शास्त्रों के अनुसार, नारियों तथा शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं था। नारी पर विश्वास नहीं किया जाता था। उसे दुष्ट, चंचल, अविचारी माना गया। नारी को यदि शिक्षा दी गई, तो वह गलत रास्ते पर जाएगी और परिवार की सुख शांति भंग हो जाएगी। लोगों के ऐसे विचार थे। नारी को शिक्षित करना अर्थात् समाज की दृष्टि से भ्रष्टाचार करना था। लड़की ने यदि शिक्षा प्राप्त की तो वह समय से पहले विधवा हो जाएगी। नारी के जूते या चप्पल पहनने को अपवित्र माना गया। यदि उसने छतरी का प्रयोग कर लिया, तो उसे पुरुषों का अपमान समझा जाता था। बुजुर्गों के सामने पत्नी का पति से बात करना को असभ्य माना जाता था। एक बार एक दंपति दिन के समय बात करते हुए दिख गये, तो उस लड़के के पिता ने उन दोनों को इस अपमान के लिए पूरे दिन कमरे में बन्द रखा था। पत्नी अपने पति के साथ पलंग पर बैठ कर खाना खाए, तो इसे भी अपमानजनक बात माना जाता था। पढ़ाई करने से उसमें पाप प्रवृत्ति बढ़ेगी, उसकी बुद्धि-अनुसार चलने से सर्वनाश हो जाएगा। नारी दोषों तथा अज्ञानता की खान है। उसको पढ़ाना अर्थात् पागल के हाथ में चाकू देने के समान भयंकर है। इस प्रकार धर्म तथा सामाजिक परंपरा ने नारी जीवन को जकड़कर रखा हुआ था।²³

भारत में वर्ण और जाति—व्यवस्था के कारण पुरुषों का उनकी जातिनुसार उच्चवर्णीय पुरुष तथा शूद्र—अतिशूद्र पुरुष के रूप में विभाजन हुआ था। इसी प्रकार स्त्रियों का भी उच्चवर्णीय नारियां तथा शूद्र—अतिशूद्र नारियों के रूप में बांटा गया था। फुले ने पुरुष अथवा नारी में वर्ण तथा जाति, धर्म अथवा देश की क्यों न हो, ऐसा फुले का विचार था। इसीलिए उन्होंने नारी शिक्षा सभी जाति—धर्म की नारियों के लिए शुरू की थी। उन्होंने महार, मातंग जैसी अछूत जातियों की लड़कियों को भी अपनी पाठशाला में प्रवेश दिया। यह अत्यंत उल्लेखनीय बात है।

नारी को केवल पढ़ने—लिखने अथवा उनकी साक्षर होने तक की शिक्षा को ही जोतीराव फुले ने सीमित नहीं किया था। शिक्षा के कारण नारी को अपने अधिकारों के प्रति सचेत होना चाहिए, उसके व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए, ऐसा उन्हें लगता था। इसीलिए उस दृष्टि से अपनी पाठशाला में उन्होंने लड़कियों को शिक्षा दी थी। उन्होंने नारी शिक्षा का संबंध नारी की स्वतंत्रता से जोड़ा था। फुले की पाठशालाओं की लड़कियों के विचार कितने सुदृढ़ हो गए थे, यह बात एक मातंग (अछूत) जाति की मुक्ता नामक लड़की द्वारा लिखे एक निबंध से स्पष्ट होता है।

मुक्ता अपने निबंध में लिखती है, “ब्राह्मण लोग कहते हैं कि वेद पर केवल हमारा ही अधिकार है। हम लोग ही उसे देख सकते हैं। इससे लगता है कि धर्म ग्रंथ हमारे लिए नहीं है। यदि वेद केवल ब्राह्मणों के लिए ही हैं, तो वेदों के अनुसार व्यवहार करना भी ब्राह्मणों का धर्म होना चाहिए। हमें धार्मिक पुस्तकें देखने का अधिकार नहीं है, तो हम धर्मरहित हैं, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है कि नहीं? तो हे भगवान, तेरी ओर से कौन सा धर्म आया है। इसके बारे में जरा हमें बताओ, ताकि हम सभी उसी की रीति से अनुभव लें।”

हमें तेल सिंदूर पिलाकर 'इमारतों की नींव में गाड़कर हमें नष्ट करने का क्रम चलाया था। उन दिनों महार—मातंग में से यदि कोई विद्यालय के सामने से गुजर भी जाता था, तो गुलटेकडी के मैदान में उसके सिर की गंद बनाकर, तलवार रूपी डंडे से खेलते थे। उन दिनों राज—द्वार के सामने से गुजरने पर भी पाबंदी थी, तो फिर विद्याध्ययन की स्वतंत्रता कहां से मिलेगी? यदि किसी को पढ़ना लिखना आ गया और इस बात का पेशवा बाजीराव को पता चल गया, तो वह कहता था कि, 'ये महार—मातंग अछूत होकर भी पढ़ते हैं, तो क्या उन्हें कार्यालय का काम देकर और ब्राह्मणों को बगल में धोपटी लेकर विधवाओं की हजामत करते हुए घूना पड़ेगा?' ऐसा कहकर उसे दण्ड दिया जाता था।

इस जुल्म को यदि विस्तार से लिख दूं तो मुझे रोना आ जाएगा, इस कारण भगवान ने हम पर कृपा करके उदार अंग्रेजी सरकार को यहां भेजा और हमारे दुखों का अंत हुआ। जिसका उल्लेख मैं आगे करूंगी। किले की नींव में गाड़ने पर प्रतिबंध लगा, तो हमारा वंश भी बढ़ने लगा है। महार—मातंग में से यदि किसी ने पतली चादर ओढ़ली तो वे कहते हैं कि, तुम इसे चोरी करके लाए हो। ऐसी चादर को तो केवल ब्राह्मण ही ओढ़ सकता है। यदि महार—मातंग ऐसी चादर ओढ़ेंगे तो धर्मभ्रष्ट हो जाएगा, ऐसा कहकर वे उसे बांधकर मारते थे। उच्च वर्ग के लोगों की दृष्टि में अपराध किया, तो मातंग महारों का सिर काट दिया जाता था, पर अब यह प्रथा बंद हो गई है। जुल्मी बेगार प्रथा बन्द हो गई है। शरीर का स्पर्श अथवा छूआछूत कहीं—कहीं बन्द हो चुकी है। गुलटेकडी के बाजार में घूमने की छूट मिल गई है।²⁶

मातंग जाति की चौदह वर्षीय लड़की द्वारा लिखे इस निबंध से यह सिद्ध होता है कि शिक्षा के कारण उसे अपने अधिकारों का ज्ञान हुआ। वह भी फुले के समान ही अपने विचार रखती है। विषमता मानने वाले धर्म का निषेध करती है और सामाजिक परिवर्तन पर विचार रखती है। संभवतः यह निबंध अछूत समाज की किसी लड़की का पहला निबंध था। उस लड़की के इस निबंध के संबंध में सुनकर 'ज्ञानोदय' पत्र ने लिखा कि, “राजश्री जोतीबा माली,

- 10) वही, पृ 446
- 11) वही, पृ 466
- 12) वही, पृ 448, 449
- 13) धनंजय कीर, म. जोतीराव फुले, पॉप्युलर प्रकाशन, मुम्बई 1996, पृ. 98
- 14) सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक—महात्मा फुले : समग्र वाङ्मय 1991, पृ. 499
- 15) वही, पृ 450
- 16) वही, पृ 498
- 17) वही, पृ 504
- 18) प्रभाकर वैद्य—महात्मा फुले और उनकी परंपरा, लोकवाङ्मय गृह, मुम्बई, 1982, पृ. 171
- 19) सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक—महात्मा फुले : समग्र वाङ्मय, 1991, पृ 416
- 20) वही, पृ 510
- 21) प्रभाकर वैद्य—महात्मा फुले और उनकी परम्परा, लोवाङ्मय गृह, मुम्बई 1982, पृ. 171
- 22) धनंजय कीर, म. जोतीराव फुले, पॉप्युलर प्रकाशन, मुम्बई, 1996, पृ. 28
- 23) वही, पृ 29, 30
- 24) ना. वि. जोशी—पुणे शहर का वर्णन (म. फुले गौरवग्रंथ से रा.ना. चव्हाण इनके लेख से पृ. 440)
- 25) फुले : समग्र वाङ्मय —म. फुले ने पूना में शुरू की गई पाठशाला संबंधी के कागदपत्र 1991, पृ. 621, 622
- 26) न. वि जोशी—पुणे शहर का वर्णन, परिशिष्ट 2 रे (महात्मा जोतीराव फुले, लेखक—धनंजय कीर से पृ. 47, 48)
- 27) ज्ञानोदय, 15 फरवरी, 1855, (महात्मा जोतीराव फुले लेखक—धनंजय कीर से पृ. 47, 48)

nfyr thou dk nLRkkost %nfyr vkRedFku

&MKW foey Fkkjkr

हिन्दी साहित्य में 'दलित साहित्य' आज चर्चा के केन्द्र में है। दलित साहित्य की अवधारणा क्या है? दलित लेखक कौन और किसे माना जाना चाहिए? दलित साहित्य, साहित्य की श्रेणी में आता है अथवा नहीं? सौन्दर्यशास्त्र के मानदंडों पर वह खरा उतारता है अथवा नहीं। इन सभी सवालों के साथ दलित साहित्य और लेखकों, चिंतकों का दोहरा संघर्ष चल रहा है।

हिन्दी साहित्य में जिस सत्ताधारी और वर्चस्ववादी विचारधारा का आज तक प्रभाव और प्रभुत्व रहा है, उसके लिए हाशिये पर स्थित, बहिष्कृत करार दिए गए समाज द्वारा साहित्य जैसे विशिष्ट क्षेत्र में दखल देने पर ऐतराज करना उनकी नजर में स्वाभाविक ही था।

धर्माधिष्ठित वर्ण व्यवस्था और जातिव्यवस्था द्वारा जिनका समाज में एक निश्चित स्थान बना दिया हो, जन्मना ही जिसका सामाजिक स्तर आर्थिक स्थिति और सांस्कृतिक दायरा तय कर दिया हो, मानवीय अधिकारों से वंचित रखकर एक तंग दायरे में रहते हुए संकुचित सोच के साथ जीने की आदत डाली हो। क्या वही इन्सान चेतनशील होकर आज धर्म ब्राह्मणव्यवस्था की पैदाईश सामंतवाद पूंजीवाद, जातिवाद और शोषण के विरोध में संघर्ष के लिए उठ कर खड़ा हुआ है? सामाजिक बदलाव की भाषा के साथ नए समतामूलक समाज व्यवस्था की स्थापना करने के लिए प्रतिबद्ध हो चुका को, तो यह प्रश्न उनके लिए आश्चर्य की ही बात होगी। जो सदैव सत्ताधारी, संपत्तिशाली और श्रेष्ठतम बने रहने के लिए आजीवन प्रयास करते रहे हैं, और अपने श्रेष्ठत्व को मनवाने के लिए एक ऐसे दास वर्ग का निर्माण करके उसे उसी तरह बनाए रखने में जी जान से जुटे हुए हों। क्या वे यह मान सकते हैं कि कल तक बेजुबान बना रहा अमानवीय उत्पीड़न और अपमान को सहते रहने के बाद भी बोल नहीं सका, आज अपने शब्दों में प्रलयकारी तेज भर कर, उस अमानवीय उत्पीड़न, अधिकारों के हनन और अपमान, अवहेलना, वेदना का हिसाब मांग रहा है। जाहिराना तौर पर उसके जीवन को नरकतुल्य बनाने वालों से सवाल कर रहा है। गलीज और दरिद्र जीवन को उसके हिस्से में जबरदस्ती थोपने वाली धर्म और जाति व्यवस्था की चीरफाड़ कर रहा हो। अपने अस्तित्व के प्रति भान आए इस चेतनाशील साहित्य की ही एक शक्तिशाली विधा 'दलित आत्मकथन' की कुछ मुख्य विशेषताओं पर चर्चा करें।

दलित आत्मकथन आज दलित समुदाय के विविध आयामों को अपने अंदर समेटकर शोषण के हर उस पहलू की एक समाजशास्त्र की चिकित्सक दृष्टि से चीरफाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और उसके अंतर्संबंधों की पड़ताल करता हुआ दिखाई देता है। दलित आत्मकथाओं में उपस्थित समस्या और प्रश्न व्यक्तिगत संदर्भों से नहीं बल्कि समुदायगत संदर्भों से जुड़कर उभरते हैं। जब दलित रचनाकर अपने जीवन अनुभवों के माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी को रचनात्मक अभिव्यक्ति देता है तो वह संपूर्ण दलित समुदाय के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सरोकारों को उजागर करता है। हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथन की विधा के अंतर्गत समाहित रचनाएँ अभी संख्या में कम हैं, लेकिन सैकड़ों हिन्दी साहित्य की रचनाएँ जहाँ दलित जीवन की वास्तविकता को उसके सच्चे रूप में अभिव्यक्ति देने में सक्षम नहीं हो सकती, वहाँ केवल एक दलित आत्मकथन संपूर्ण व्यवस्था और उससे जुड़ी शोषण-संस्थाओं के शोषण, जटिलता, घृणित परंपरा और साजिशों को हमारे समक्ष खोलकर देख देती है। जैसे भारतीय साहित्य में दलित साहित्य का आरंभ मराठी दलित साहित्य द्वारा हुआ या वैसे ही आत्मकथानात्मक रचनाओं की शुरुआत सबसे पहले मराठी दलित साहित्य में हुई है।

मराठी में दलित आत्मकथनों ने एक नयी सशक्त विधा का निर्माण किया है जिसके अंतर्गत दया पवार का 'बलूत', लक्ष्मण माने का 'उपरा' लक्ष्मण गायकवाड़ का 'उचल्या' बेबी कांवले का 'जिणं आमूचं' कुमुद पावड़े का 'अंतः स्फोट', शरण कुमार लिंबाले का 'अक्करमासी' जैसी रचनाएँ शामिल हैं। दलित समुदाय से इतर जो खानाबदोश जातियाँ हैं, जिनके न कोई गाँव है न ठिकाना, ऐसे समुदायों में जन्में लेखकों ने जीवन के त्रासद अनुभवों को शब्दबद्ध करके इस संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष खड़ा किया है।

मराठी दलित साहित्य में आत्मकथनों के सृजन का दायरा बहुत विस्तृत है। केवल दलित समुदायों की रचनाओं तक ही यह सीमित नहीं है, बल्कि उन सभी उत्पीड़ित समुदायों के जीवन यथार्थ के दस्तावेजों को आत्मकथनों द्वारा समेटकर मुक्तिकामी साहित्य विमर्श के रूप में विकसित किया जा रहा है। मराठी दलित आत्मकथन और हिन्दी आत्मकथन दोनों ही दलित मुक्ति आंदोलन से निर्मित चेतना की ही रचनात्मक अभिव्यक्ति है। और दलित मुक्ति आंदोलन के प्रणेता डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर की विचारधारा से प्रस्फुटित यह साहित्यिक आविष्कार है। डॉ. आंबेडकर ने साहित्य शक्ति के बारे में कहा था— "हमारे देश में उपेक्षितों, दलितों का बहुत बड़ा संसार है, इसे भूलना नहीं चाहिए। उनकी वेदना, दनकी व्यथा को संवेदनशीलता से समझने की कोशिश करो और अपने साहित्य के द्वारा उनके जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास करो।" दलित आत्मकथनों ने इस क्रांतिकारी विचार को आत्मसात करके व्यक्तिगत अनुभूति को सामाजिक चेतना के रूप में तीव्र अभिव्यक्ति दी है।

nfyf thouku#ko dh ikef.kd vfhk0; fDr

अपमान बोध को जगाते, वेदना की गहनता को बढ़ाते, उत्पीड़न के अनुभवों को फिर से याद करके रचनात्मक अभिव्यक्ति तक पहुँचाना असीम पीड़ा को फिर से भोगना है। दलित लेखक के लिए बीते हुए कल को याद करके जीवन त्रासद अनुभव को सिलसिलेवार तरीके से रचनात्मक रूप देना, एक असह्य पीड़ा को फिर से भोगने जैसा ही है। दलित लेखकों ने प्रत्यक्ष अपमानित होकर, असहनीय वेदना को दलित जीवन का प्रारब्ध मानकर सहा था। लेकिन आंबेडकर चिंतन को आत्मसात करने पर तेजोमय दिशा की ओर अग्रसर होते हुए अंधकारमय अतीत के लिए जिम्मेदार व्यवस्था और श्रेष्ठता का ढोंग रचाते आभिजात्यों के समक्ष उसने हजारों हजार प्रश्न खड़े किए हैं। उसकी सघन होती पीड़ा का अहसास असहनीय होकर विद्रोह के रूप में फूट पड़ती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में ऐसी ही पीड़ा को झेलने के प्रसंग को याद करते हुए लिखते हैं— "अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ-बहन की गालियाँ देते थे। सुन्दर लड़कों के बाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपना करते थे।"

एक रोज हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा, "क्या नाम है बे तेरा?"

"ओम प्रकाश", मैंने डरते-डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया।

हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी।

'चूहड़े का है?' हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।

ठीक है— "वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़कर झाड़ू बनाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो ये खानदानी काम है। जा फटाफट लग जा काम पे।"

llkjrh; nfyf l kfgR; %foopuk

इस आदेश का पालन करते-करते तीन दिन बीत गए। ज्ञान प्राप्ति के लिए स्कूल में गए दलित बच्चे को उसकी जाति और खानदानी काम की याद दिलाकर, सबसे सामने अपमानित करके, उसके अधिकार और अस्तित्व को नकारना सवर्ण मानसिकता का ही प्रदर्शन है।

दलित लेखकों की समतामूलक, समाज व्यवस्था की स्थापना के प्रति प्रतिबद्धता के कारण दलित जीवन की त्रासदी से पुनः गुजरने जैसी पीड़ादायक अनुभूति को फिर से झेलते हुए सामाजिक दायित्व पूरा करने के लिए प्रमाणिकता के साथ (गुजरे हुए जीवन प्रसंगों, घटनाओं, अपमान, अवहेलना को) प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि एक विशिष्ट शोषण व्यवस्था द्वारा रचे गए षड्यंत्र के तहत यह सब हो रहा है। देश की संपूर्ण उत्पादन व्यवस्था में केवल एक श्रम बेचने वाले साधनहीन गुलाम की जिन्दगी जीने के लिए उसे बाध्य किया गया है। किसी आकांक्षा, आशा, इच्छा या सपनों को पूरा होना उसके हिस्से में आया ही नहीं है। बचपन में और बच्चों की तरह पाठशाला में जाकर शिक्षा प्राप्त करना उसके लिए सहज साध्य नहीं बल्कि एक त्रासद अनुभव है।

“अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गयाअपनी माँ.....”

उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर थर कांपने लगा था कि त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, “मास्साब, वो बैआ है कौणे में।”

“हेडमास्टर ने लपक कर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दवाब मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू.....नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़ दूंगा।”

अपने अपने पिंजरे में मोहनदास नैमिशराय भी ब्राह्मणवादी परंपराओं और सोच को ढो रहे सवर्णों द्वारा बार-बार प्रताड़ित होने की त्रासद घटनाओं को याद करते हुए लिखते हैं, “हमारे स्कूल को बाहर के लोग अक्सर चमारों का स्कूल कहा करते थे। जैसे चमारों का कुआँ, चमारों का नल, चमारों का नीम, चमारों की गली, चमारों की पंचायत आदि आदि, वैसे ही स्कूल से जड़ी थी हमारी जात। जात पहले आती थी, स्कूल बाद में। यही कारण था कि इस स्कूल में कभी भी गिनती के पूरे अध्यापक न हुए थे। दो-दो और कभी-कभी तीन-तीन कक्षाओं को एक-एक अध्यापक ही संभालता था। स्कूल में न नल था, न ही टायलेट और न खेल का मैदान।”

“अबे-तबे के बिना तो मास्टर बात ही न करते थे। यही नहीं, माँ-बाप के नाम से भी अधिकतर बच्चे को बुलाया जाता था। माँ-बाप के भी बिगड़े हुए नाम थे, अबे वो सुल्लड के, अबे वो कुल्लड के, अबे वो डोमा के।”

ज्ञान की तलाश में जाते दलित अबोध बालक-बालिकाएँ बचपन से ही अपमानित होकर, डरे-डरे, सहमे-सहमे रहते हुए अपमान और कुंठाओं से ग्रस्त होने के लिए मजबूर हैं। इससे उनका व्यक्तित्व बौना बना रहता है, आर्थिक अभाव को झेलता, जाति के कारण अपमानित होता दलित बालक और युवा इसी माहौल में शिक्षित होने के लिए बाध्य है। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मानसिक दवाब में उनके गुणों का, व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। बाद में नौकरी के लिए साक्षात्कार देते समय इन दवाबों से घिरे हुए वे ‘योग्य नहीं हैं’ जैसे अपमानजनक शब्दों को और कुल्लिसत नजरों को झेलते रहते हैं।

‘दोहरा अभिशाप’ की दलित लेखिका कौसल्य वैसत्री पांचवी कक्षा में प्रवेश के बाद, अर्थिक अभाव में शिक्षा पूरी हो पायेगी या नहीं इस कशमकश में बपने बाबा की दीनता को देखकर अपमानित और दुखी होकर इस जाति-व्यवस्था

से नफरत करने लगती है, “जब बड़ी भिड़े कन्याशाला में पांचवीं कक्षा में प्रवेश लिया तब स्कूल की फीस ज्यादा थी। एक रुपया बारह आने। परन्तु अब सब पढ़ रहे थे। घर के बच्चों की फीस देना बाबा—माँ के सामर्थ्य के बाहर की बात थी। बाबा ने हेडमिस्ट्रेस से बहुत विनती की कि वे फीस नहीं दे सकते। बहु मुश्किल से वह मान गई और कहा कि पढ़ाई अच्छी न करने पर स्कूल से निकाल देगी। बाबा ने आश्वासन दिया कि वे इसका ख्याल नखेंगे। बाबा ने हेडमिस्ट्रेस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से, क्योंकि वे अछूत थे, स्पर्श नहीं कर सकते थे। बाबा का चेहरा मायूस लग रहा था उस वक्त। मेरी आंखें भर आई थी।” ओमप्रकाश, मोहनदास और कौसल्या का बचपन आर्थिक अभाव, तिरस्कार, हीनबोधता के अहसास को झेलते हुए बीता है। यही अनुभव हर एक दलित बालक और बालिका के हिस्से में आता है तो बचपन की कोमल भावनाओं को झुलसा कर रख देता है। बात—बात पर चमार, चमारे भंगड़, भंगी या महार डेढ़ नाम से पुकारा जाना उनकी सामाजिक स्थिति को बार—बार दोहरा कर उनमें बहिष्कृत होने के अहसास को जगाता रहता है।

दलित लेखकों को द्वारा धार्मिक, समाजिक, सांस्कृति मूल्यों की छानबीन शुरू की है। धर्म के नाम पर दलितों के साथ सौतेला व्यवहार करने वाले सवर्ण समाज के दोगलेपन को वे खोल रहे हैं।

दलितों को हिंदू होकर भी हिंदू मंदिरों में प्रवेश नहीं दिया जाता। नैमिशराय अस्पृश्यता के इस तीखे अनुभव को याद करके लिखते हैं — मन्दिर और सवर्णों के लिए हम शूद्र थे, अछूत थे, दलित थे, पर इंसान न थे। हमारी छाया भी उनके लिए लिए अपवित्र थी। एक दिन मंदिर के बाहर प्रसाद लेते समय पुजारी की अंगुलियाँ जब लेखक के एक हाथ से छू गई, तो पुजारी ने गुस्से और घृणा से भरकर कहा था — तू चमार का है न। सब भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढोरों से प्रसाद दूर से लिया करो। धर्म के ठेकेदारों द्वारा धर्म का सहारा लेकर अपने आपको श्रेष्ठ मान बैठना और उसके लिए नए—नए आडंबर रचना पुरोहितवादियों की अनिवार्यता थी। दलितों को अत्यंत तुच्छ, हीन बनाए रखने में ही इस कट्टर पुरोहित का हित जुड़ा हुआ है।

दलित समाज और दलित समाज का व्यक्ति सतत् रूप से संघर्ष करता हुआ नजर आता है। यह संघर्ष वह जीने के लिए, भूख मिटाने के लिए, ज्ञान प्राप्ति के लिए, एक दो बीघे जमीन बचाने के लिए, अपने समाज, परिवार की स्त्रियों की आबरू बचाने के लिए करते हैं। दलित स्त्री के दोहरे शोषण से बचने के हर संभव प्रयास यहाँ नाकामयाब होते रहे हैं। कौसल्या बैसंत्री एक दलित स्त्री है, जिसे कई मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ता है। बचपन से युवावस्था तक शिक्षा हासिल करते हुए सतत् हीनत्व बोध का सामना करना पड़ता है। अभाव ग्रस्त परिवार में एक—एक बच्चा नया संकट बनकर आता है। शिक्षा से इंसान तरक्की कर सकता है, नया जीवन रचने की उसमें क्षमा पैदा हो जाती है, यह जानकर जब तब कौसल्या के पिता अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए दर—दर की ठोकें खाकर, अपमानित होते रहते हैं। अपमान के विषैले घूंट पीकर बच्चों के भविष्य को सुन्दर बनाने का प्रयास करते दिखते हैं, “बाबा ने अठारह वर्ष बेकरी में नौकरी की। वे सवेरे ही चार बजे बेकरी में जाते थे। कभी ज्यादा काम हो तो तीन बजे ही चले जाते थे। बेकरी वाले ने अठारह वर्ष में बाबा और दूसरे नौकरों को एक पैसा भी पगार में नहीं बढ़ाया। बाबा की जो तनख्वाह नौकरी में लगने के समय थी, उतनी ही मिलती थी। बाबा ने भी बेकरी वालों से पैसा बढ़ाने के लिए नहीं कहा। बेकरी की नौकरी छोड़ने पर बाबा कबाड़ी का धंधा करने लगे। वे अंग्रेजों के घर से बहुत सुंदर—सुंदर बोटलें, टिन के डिब्बे, अंग्रेजी, हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ आदि लाकर बेचते थे। माँ की पगार से ही घर चलता था। बाबा के सामान की कभी अच्छी बिक्र होती थी, कभी नहीं। बस भाजी का खर्चा निकल आता था।”

गाँव के प्रभावशाली सवर्ण जमींदार, पाटिल, सामंतों के साथ सुहागरात बितानी पड़ने की शर्मनाक परंपरा इसी घृणित ब्राह्मणवादी परंपरा की देन है जिसे तोड़ने में सैकड़ों वर्ष लग गए हैं। लेकिन आज भी बिहार जैसे राज्य के कुछ क्षेत्र में जमींदारों के दबाव और भय से इस प्रथा का चलन जारी है। दलितों को मृत्यु भय के कारण इसे आज भी बर्दाश्त करना पड़ रहा है। जो भी विरोध करने की कोशिश करता है, उसे मार दिया जाता है। शासन इस परंपरा को नष्ट करके दलितों को सुरक्षा नहीं दे पाता है, क्योंकि कोई भी शासन धार्मिक और जातिगत समस्याओं और परंपराओं को नष्ट करने के प्रयास करके सत्ताधारियों की नाराजगी नहीं झेल सकता।

दलित महिलाओं के प्रति सवर्ण समाज के हीन दृष्टिकोण के कारण दलित महिलाएँ सदैव अपमानित प्रताड़ित और शोषित होने को बाध्य हैं। इन्हें इन्सान की जगह भोग की वस्तु समझा जाता रहा है। आज भी इस रवैये में कोई बदलाव नजर नहीं आता। गाँवों में हर प्रकार के परिश्रम से जुड़ी दलित महिलाएँ निरंतर झिड़कियाँ या अपमानजनक शब्दों को झेलती रहती हैं। विवशता, अभाव और दीनता के कारण वे इसका विरोध करने से डरती हैं। 'अपने अपने पिंजरे – में नैमिशाराय ऐसी ही एक घटना को चित्रित कर रहे हैं – बस्ती से कुछ औरते जंगल जाती थीं। वे वहाँ मेहनत-मजदूरी करती थीं। उनमें कुछ घास लाती थीं तो कुछ जलावन की सूखी लकड़ी। कुछ मक्का के खेत से भुट्टे, कुकड़ी तोड़ने का काम करती और कुछ कोल्ड स्टोरेज से आलू, प्याज आदि की छंटाई करती थीं। वे नफरी कहलाई जाती थीं पर उन्हें नफरी कोई न कहता था। वे जवान हो या बूढ़ी उन सभी को चमारी कहकर ही संबोधित किया जाता था। खेत और कोल्ड स्टोरज हिंदुओं के भी थे और मुसलमानों के भी। अधिकांश महिलाओं को इक्कों में सुबह-ही-सुबह भेड़-बकरियों की तरह भरकर लाया जाता था। वह वहीं से आवाजें लगाता था—“अरी चलो-चलो री चमारियों। जल्दी करो सुबै हो गई है।” और कपड़े में सूखी रोटी के टुकड़े बांधे हुए वे औरतें अपने-अपने घरों से निकलकर इक्के में बैठने लगतीं। इक्के पर बैठा मुसलमान एक-एक कर हाकिम की तरह उनकी गिनती करता।’ दलितों को इन्सानियत की नजर से न देखकर भेड़ बकरियों के रूप में देखना हिन्दू समाज व्यवस्था की मानसिकता बन चुकी है जिसका प्रभाव इस्लाम के मानने वालों पर भी देखा जा सकता है।

गाँवों से पढ़-लिखकर और अच्छे ओहदों पर दलितों के प्रति सवर्णों का रवैया ना तो गाँवों में और ना ही शहरों में ही बदला है। ओमप्रकाश वाल्मीकि को जाति के प्रश्न ने जिस कदर तकलीफ दी है वे इसे बयान करते हैं। ओमप्रकाश के मित्र कुरेशी के कहने पर दोनों डी.एस.पी. के घर पर उनसे मिलने गए। नए कमांडेंट साहब गर्मजोशी से मिले थे। यह सुनकर खुश हुए थे कि मैं बरला का रहने वाला हूँ। अभी ठीक से बैठे भी नहीं थे कि उन्होंने कहा—“बरला तो त्यागियों का गाँव है आप किस जाति से हैं? मैंने कुरेशी की ओर देखा। उसके चेहरे का रंग बदल गया था। प्रश्न स्वाभाविक तौर पर पूछा गया था। कमांडेंट के चेहरे पर सहजता थी। किन्तु मैंने जैसे ही अपनी जाति 'चूहड़ा' बताई, वे असहज हो गए थे। बातचीत का सिलसिला भी थम गया था। जैसे बात करने लायक कुछ बचा ही नहीं था। कुरेशी के लिए नया अनुभव था।”

आत्मकथाओं में अभिव्यक्त इन अनुभवों के द्वारा भारतीय जाति व्यवस्था की जटिलता को बहुत स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। आधुनिक विचार और रहन-सहन को अपनाने वाले सवर्ण अधिकारियों को भी जाति के विभाजन और ऊँच-नीच के भेदभाव को भुला देना असंभव लगता है। उनके संस्कारों में यह इतने गहरे पैठा हुआ है कि बिना इसके सहारे एक कदम भी चलना दूभर हो जाए। धर्म, सत्ता, अर्थसत्ता, राजनीतिक सत्ता और संस्कृति के द्वारा प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग करके ही यह निर्मित हुई है जिसने मनुष्य को दलित बनाकर रखने में धन्यता मानी और उसके लिए इस संस्कृति ने स्वयं को गौरवान्वित भी अनुभव किया है। हिन्दी साहित्य के पिछले सौ वर्षों के इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाए, तो दलितों को केवल सहानुभूति के आधार पर साहित्य का विषय या पात्र बनाए जाने

सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक शोषण की उत्पत्ति का सीधा संबंध जाति के साथ है क्योंकि यहाँ जाति जन्मना है कर्मणा नहीं। जन्म और कर्म सिद्धांत के झूठे फँसकर ही तो दलित समाज सदियों तक अपना प्रारब्ध मानकर चुपचाप अमानवीय अत्याचारों को सहता रहा। लेकिन अपने अस्तित्व और अस्मिता का भान आते ही वह पुरातन परंपराओं की जंजीरों को तोड़कर, मुक्त होने की चाहना में डॉ. आंबेडकर द्वारा जलाई मशाल को तेज देता आगे बढ़ता चला जा रहा है।